मूल्य : ५ रुपये २५ नये पैसे

प्रकाशक :
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
दिल्ली ।

मुद्रक :
एवरेस्ट प्रैस
४, चमेलियान रोड,
दिल्ली ।

विषय सूची

अध्याय १

प्रस्तावना

समाज प्राचीन हो या आधुनिक, उस की विशेषता दो महत्वपूर्ण तत्वों से जानी जा सकती है जिनका परस्पर निकट सम्बन्ध है। वे तत्व हैं : अर्थ प्रणाली और कुटुम्ब प्रणाली। आजकल दो प्रभावशाली विचार सम्प्रदाय प्रचलित हैं, जिन में से एक की विचारधारा का स्रोत आर्थिक है और दूसरे का है कुटुम्ब या काम-भावना। पहला विचार सम्प्रदाय मार्क्स का है और दूसरा फ्रायड का। मैं इन दोनों में से किसी का भी अनुयायी नहीं हूँ क्योंकि मेरे विचार में अर्थशास्त्र और सेक्स (काम) के परस्पर सम्बन्ध से यह स्पष्ट नहीं होता कि इनमें से कौन कारक है और कौन कारण और इस दृष्टि से इन दोनों में कौन मुख्य है और कौन गौण। एक उदाहरण लीजिए : इसमें सन्देह नहीं कि औद्योगिक क्रान्ति का यौन नैतिकता पर गहरा प्रभाव रहा है और रहेगा, लेकिन इसके विपरीत प्यूरिटंस का यौन सदाचरण किसी अंश तक औद्योगिक क्रान्ति के लिए उत्तरदायी था और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसके लिए आवश्यक भी था। मैं यह कहने के लिए तैयार नहीं हूँ कि अर्थ प्रधान है या सेक्स (काम भावना) और न इन्हें स्पष्ट रूप से अलग-अलग ही किया जा सकता है। अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मूलरूप से भोजन प्राप्त करने से है लेकिन मानव समाज में भोजन की आवश्यकता केवल उसी व्यक्ति को नहीं जो उसे प्राप्त करता है ; भोजन की आवश्यकता उसे अपने परिवार के लिए होती है और कुटुम्ब प्रणाली में परिवर्तन होने के साथ-साथ आर्थिक प्रेरणाएं भी बदलती रहती हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि यदि बच्चों को उनके मां-बाप से छीन लिया जाय और उन का भरण-पोषण राज्य को सौंप दिया जाय—जिस की कल्पना प्लेटो ने अपने ग्रंथ रिपब्लिक में की है—तो न केवल जीवन-बीमा बल्कि अधि-

कांश प्रकार की निजी बचत लगभग बन्द हो जायगी। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यदि पिता के कार्य राज्य संभाल ले तो एकमात्र पूंजीपति के रूप में राज्य ही रह जायगा। जो लोग पूरी तरह साम्यवादी हैं वे इसके बिल्कुल विपरीत बात कहते हैं। उनका कहना है कि यदि राज्य ही एकमात्र पूंजीपति रह जाय तो हम जिसे परिवार कहते हैं, वह जीवित नहीं रह सकता। यदि हम यह समझ लें कि यह कहना अतिशयोक्ति है तो भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि निजी सम्पत्ति और परिवार में गहरा सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध पारस्परिक है, इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि इन में से एक कारण है और दूसरा प्रभाव।

आप देखेंगे कि समुदाय की यौन नैतिकता में कई परतें हैं। सब से पहले तो वे प्रत्यक्ष प्रथाय हैं जिनकी व्यवस्था कानून में है, जैसे कुछ देशों में एक विवाह और कुछ में बहु विवाह। दूसरी परत वह है जहां कानून का हस्तक्षप नहीं, परन्तु वहां जनमत का प्रभाव होता है। तीसरी परत वह है जहां पर सारी बात—सिद्धान्त रूप में नहीं तो व्यवहार रूप में—व्यक्ति के विवेक पर छोड़ दी जाती है। एक सोवियत रूस को छोड़, संसार का कोई भी देश नहीं और न इतिहास में कभी ऐसा युग आया है जबकि यौन नैतिकता और यौन प्रथायें युक्तियुक्त आधार पर बनी हों। मेरा तात्पर्य यह नहीं कि इस सम्बन्ध में सोवियत रूस की प्रथायें सम्पूर्ण हैं, मैं तो केवल यह कह रहा हूँ कि वे अंधविश्वास और परम्परा पर नहीं बनी है जैसे कि, कुछ अंश तक अन्य सभी देशों में, सभी युगों में रही हैं। यह निश्चय करना बड़ी जटिल समस्या है कि सामान्य सुख के दृष्टिकोण से कौन सी यौन नैतिकता सब से अच्छी होगी। भिन्न परिस्थितियों में इस प्रश्न का उत्तर अलग-अलग होगा। औद्योगिक दृष्टि से उन्नत समुदाय में यौन नैतिकता आदिम कृषि-प्रधान तंत्र से भिन्न होगी। उस प्रदेश में जहां चिकित्सा विज्ञान और स्वास्थ्य विज्ञान की उन्नति के कारण मरण-दर कम हो यौन नैतिकता उस प्रदेश से बिल्कुल भिन्न होगी जहां की जनसंख्या का बहुत-सा भाग संक्रामक और अन्य रोगों के कारण वयस्क होने से पहले ही मौत के मुंह में चला जाता है। जब हमारा ज्ञान कुछ अधिक हो जायगा तो शायद हम यह कह सकेंगे कि एक विशेष

जलवायु में जो यौन नैतिकता सर्वोत्तम है, वह दूसरी जलवायु से भिन्न होगी और आहार के अनुसार भी उस में भेद होंगे।

यौन नैतिकता के प्रभाव भो अलग-अलग प्रकार के होते हैं—वैयक्तिक, दाम्पत्तिक, पारिवारिक, राष्ट्रिक और अन्तर्राष्ट्रिक। यह भी हो सकता है कि कुछ पहलुओं पर अच्छे प्रभाव हों और कुछ पर बुरे। इन सभी बातों पर विचार करने के बाद ही हम यह निर्णय दे सकते हैं कि किसी प्रणाली के सम्बन्ध में हम क्या सोचें। सब से पहले शुद्ध यक्तिक प्रभावों को ही लीजिए। ये प्रभाव मनोविश्लेषण द्वारा जाने जा सकते हैं। यहां हमें न केवल उस वयस्क व्यवहार पर विचार करना है जो किसी विशेष आचरण संहिता से उत्पन्न होता है बल्कि बचपन में दी गयी शिक्षा का भी ध्यान रखना है जिसने इस संहिता का पालन करना सिखाया। सभी जानते हैं कि इस क्षेत्र में रूढ़ निषेधों के प्रभाव बड़े अद्भुत और अप्रत्यक्ष होते हैं। विषय के इस क्षेत्र में हम व्यक्तिगत भलाई के स्तर पर सोच रहे हैं हमारी समस्या की अगली मंज़िल वह है जब हम स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों की बात सोचते हैं। यह स्पष्ट है कि कुछ यौन सम्बन्ध दूसरों की अपेक्षा अधिक महत्वशाली होते हैं। अधिकतर लोग यह बात मानेंगे कि यौन सम्बन्ध में शारीरिक आकर्षण की अपेक्षा मानसिक तत्व अधिक हो, तो वह अधिक अच्छा सम्बन्ध होता है। सच तो यह है कि कवियों से सभ्य मानव की चेतना ने यह विचार ग्रहण किया है कि प्रेम में सम्बन्धित व्यक्तियों के व्यक्तित्व का जितना अधिक समावेश हो, उसका महत्व उतना ही अधिक होता है। कवियों ने बहुत से लोगों को यह भी सिखाया है कि प्रेम का महत्व उसकी गहनता से आंकें, परन्तु इसमें मतभेद की काफी गुंजाइश है। आज के युग के अधिकांश लोग यह मानेंगे कि प्रेम तो बराबरी का सम्बन्ध होना चाहिए और उदाहरणार्थ बहुविवाह को, किसी और आधार पर नहीं तो केवल इस एक आधार पर, आदर्श व्यवस्था नहीं माना जा सकता। विषय के इस क्षेत्र में न केवल वैवाहिक बल्कि वैवाहिक क्षेत्र से बाहर के यौन सम्बन्धों का भी ध्यान रखना पड़ेगा क्योंकि विवाह पद्धति चाहे जैसी भी हो, वैवाहिक क्षेत्र से बाहर के यौन सम्बन्ध भी उसी के अनुरूप बदलेंगे।

अगला प्रश्न परिवार का है। विभिन्न समयों पर विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न

प्रकार के परिवार समूह रहे हैं लेकिन बाहुल्य पितृसत्तात्मक परिवार का रहा है। और इसके अतिरिक्त बहुविवाह वाली पितृसत्ता की अपेक्षा एक विवाह वाली पितृसत्ता अधिकाधिक रही है। ईसा पूर्व के युग से ही पश्चिमी सभ्यता में यौन नैतिकता की मुख्य प्रेरणा यह रही है कि स्त्रियों में कम से कम उस अंश तक सतीत्व रहे जिसके बिना पितृसत्ता परिवार का अस्तित्व ही असम्भव है, क्योंकि तब यह तो निश्चित नहीं कहा जा सकता कि पिता कौन है। ईसाई मत ने इस बात पर जोर देकर जो योगदान दिया है उसका मनोवैज्ञानिक उपाय सात्विकता से है; हालाँकि अभी हाल के युग में नारी-सुलभ ईर्ष्या के कारण भी—जोकि स्त्रियों की स्वतन्त्रता के फलस्वरूप अधिक उत्कट हो गयी है—इस प्रेरणा को बल मिला है। लेकिन यह कारण अस्थायी मालूम होता है क्योंकि देखने में तो ऐसा लगता है कि स्त्रियों को उस व्यवस्था के स्थान पर, जिसमें पुरुषों पर वही प्रतिबन्ध लगें जो कि अब तक केवल स्त्रियों पर लगते थे, ऐसी व्यवस्था पसन्द होगी, जिसमें स्त्रियों और पुरुषों को बराबर स्वतन्त्रता प्राप्त हो।

एकविवाह पद्धति पर आधारित परिवार भी कई प्रकार का होता है। विवाह का निर्णय सम्बद्ध स्त्री-पुरुष स्वयं कर सकते हैं या उनके मां-बाप कर सकते हैं। कुछ देशों में दुल्हन खरीदी जाती है और कुछ में, उदाहरण के लिए फ्रांस में, दूल्हा। तलाक़ के सम्बन्ध में भी बहुत से भेद हो सकते हैं। एक तो कैथॉलिक मत है, जिसमें तलाक़ की अनुमति ही नहीं दी जाती और दूसरी चरम सीमा पुराने समय का चीन है जहां का क़ानून पुरुष को केवल इस आधार पर अपनी पत्नी को तलाक़ देने की अनुमति देता था कि वह बहुत बोलती है। यौन सम्बन्धों में स्थिरता या अर्ध स्थिरता का प्रश्न न केवल पशुओं बल्कि मानवों के सम्बन्ध में भी उठता है, क्योंकि जाति (स्पीशी) को बनाए रखने के लिए बच्चों के भरण-पोषण में नर का सहयोग आवश्यक है। उदाहरण के लिए, पक्षियों को अपने अंडे गरम रखने के लिए निरन्तर उन पर बैठे रहना पड़ता है और भोजन प्राप्त करने के लिए दिन में कई घण्टे परिश्रम करना पड़ता है। कई प्रकार के (स्पीशियों) पक्षियों में, एक ही पक्षी के लिए यह काम करना असंभव है

और इसलिए नर का सहयोग आवश्यक है। इसका परिणाम यह है कि अधिकतर पक्षी सदाचार के आदर्श हैं। मानवों में, विशेषकर अस्थिर परिस्थितियों में या उन समुदायों में जहां गड़बड़ होती ही रहती है, जीवशास्त्र के दृष्टिकोण से पिता का होना उसकी संतान के लिए वहुत लाभकारी सिद्ध होता है लेकिन आधुनिक सभ्यता के विकास के साथ-साथ पिता का स्थान राज्य लेता जा रहा है और यह सोचने का पर्याप्त कारण है कि जल्दी ही, कम से कम वेतन-भोगी वर्ग में, जीवशास्त्र की दृष्टि से पिता अपनी सन्तान के लिए लाभकारी नहीं रहेगा। यदि ऐसा हो गया तो हमें इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए कि परम्परा से चली आ रही नैतिकता छिन्न-भिन्न हो जाये क्योंकि मां के लिए यह चाहने का कोई कारण नहीं रह जायेगा कि उसकी सन्तान के पितृत्व के सम्बन्ध में किसी को कोई शंका न रहे। प्लेटो तो इस से भी एक क़दम आगे चले गए थे और चाहते थे कि राज्य न केवल पिता का बल्कि माता का भी स्थान ले ले। मैं न तो राज्य का इतना प्रशंसक हूँ और न अनाथालयों में प्राप्त सुख से ही इतना प्रभावित हूँ कि इस योजना का उत्साह पूर्वक समर्थन करूं। साथ ही यह भी असंभव नहीं है कि आर्थिक कारणों से किसी सीमा तक इस योजना को अपनाना पड़े।

क़ानून का सेक्स के साथ दो प्रकार का सम्बन्ध है: एक तो उसे उस यौन नैतिकता को कार्यरूप में परिणत कराना है, जिसे किसी समुदाय विशेष ने मान लिया हो और दूसरा काम यह है कि सेक्सीय-क्षेत्र में व्यक्तियों के सामान्य अधिकारों की रक्षा की जाय। यह दूसरा काम दो मुख्य भागों में बांटा जा सकता है: एक ओर तो स्त्रियों और अवयस्क व्यक्तियों को वलात्कार और हानिप्रद शोषण से बचाना और दूसरा रति-रोगों को रोकना। सामान्यत: इन दोनों में से किसी को भी उसके गुण-दोषों के आधार पर नहीं आंका जाता और इसी कारण दोनों में से कोई भी काम उस प्रभावोत्पादक ढंग से नहीं होता जैसे कि होना चाहिए। जहां तक स्त्रियों की रक्षा का सवाल है, उन्हें वचाने के लिए उनके बेचे जाने के विरुद्ध उन्मादपूर्ण आन्दोलन चलाए जाते हैं जिनके फलस्वरूप क़ानून वनते हैं लेकिन ऐसे जिन की पकड़ से पेशेवर बदमाश तो बच जाते हैं

परन्तु निर्दोष व्यक्तियों को डरा-धमका कर उनसे पैसा वसूलने वालों को अवसर मिल जाता है। जहां तक रति-रोगों का सम्बन्ध है, उनके बारे में यह सोचा जाता है कि वे पाप का उचित दण्ड हैं और इसी कारण वे उपाय नहीं अपनाए जाते जो चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से बहुत ही प्रभावी होते हैं। साधारणतया रति-रोगों को लज्जाजनक माना जाता है और इसलिए लोग इन्हें छिपाते हैं। परिणाम यह होता है कि इनका समय पर और पर्याप्त इलाज नहीं हो सकता।

इसके बाद हम जनसख्या के प्रश्न को लेते हैं। यह अपने आप में एक बहुत बड़ी समस्या है और इस पर कई दृष्टिकोणों से विचार करना चाहिए। माताओं के स्वास्थ्य का प्रश्न है, बच्चों के स्वास्थ्य का प्रश्न है और यह प्रश्न है कि छोटे या बड़े परिवारों का बच्चों के चरित्र पर क्या-क्या प्रभाव पड़ेगा। ये समस्या के वे पहलू हैं जो स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्र में आते हैं। फिर व्यक्तिगत और सार्वजनिक दोनों प्रकार के आर्थिक पहलू आते हैं: जैसे परिवार का प्रति व्यक्ति धन या परिवार के आकार को ध्यान में रखते हुए समुदाय का धन और या समुदाय का जन्म-दर। इस प्रश्न के साथ इस बात का भी गहरा सम्बन्ध है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर जनसंख्या का क्या प्रभाव पड़ता है और विश्व में शान्ति बनाए रखने की कहां तक सम्भावना है॥ और अन्तिम प्रश्न यह है कि समुदाय के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार के मरण और जन्म-दरो के फलस्वरूप नस्ल सुधर रही है या बिगड़ रही है। ऊपर जिन दृष्टिकोणों की व्याख्या की गयी है उन सभी से किसी यौन नैतिकता की परीक्षा करने के बाद ही पक्के-पोढ़े आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह उचित है या निंदनीय। सुधारक और प्रतिक्रियावादी दोनों ही की यह आदत रही है कि वे समस्या के एक या दो ही पहलुओं पर विचार करते हैं। और ऐसा तो यदा-कदा ही होता है कि व्यक्तिगत और राजनीतिक दृष्टिकोणों का समावेश हो, लेकिन फिर भी यह कहना असम्भव-सा है कि इन दोनों में से कौन दूसरे की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। और हम पहले से ही यह निश्चय नहीं कर सकते कि जो प्रणाली व्यक्ति के दृष्टिकोण से अच्छी है वह राजनीतिक के दृष्टिकोण से भी अच्छी होगी और जो प्रणाली राजनीतिक के दृष्टिकोण से अच्छी है, वह व्यक्ति के दृष्टिकोण

से भी अच्छी होगी । मेरा अपना विश्वास है कि अधिकतर युगों और स्थानों में अस्पष्ट मनोवैज्ञानिक शक्तियों के प्रभाव में आ कर मानव ने ऐसी प्रणालियां अपनाई हैं जिनमें बिल्कुल अनावश्यक कठोरता निहित है और आजकल भी बहुत सी सभ्य जातियों में ऐसा ही होता है। मेरा यह भी विश्वास है कि चिकित्सा और स्वास्थ्य विज्ञान में जो प्रगति हुई है उसके कारण व्यक्तिगत और सार्वजनिक दोनों दृष्टिकोणों से यौन नैतिकता में परिवर्तन होने चाहिएं। और दूसरी ओर, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, शिक्षा में राज्य के बढ़ते हुए अधिकार क्षेत्र के कारण धीरे-धीरे पिता का उतना महत्व नहीं रह पाया है जितना कि अब तक के सम्पूर्ण इतिहासकाल में रहा है । इसलिए आज की नैतिकता की आलोचना करते समय हमें दो बातों का ध्यान रखना है। एक तो हमें अंधविश्वास के उन तत्वों को मिटाना है, जो बहुधा उपचेतन में होते हैं और दूसरे उन बिल्कुल नए तत्वों को ध्यान में रखना है, जिनके कारण पुराने युगों की बुद्धिमत्ता आज के युग की बुद्धिमत्ता बनने के स्थान पर आज की मूर्खता बन गयी है ।

आज की प्रणाली को उसके ठीक परिपार्श्व में देखने के लिए मैं पहले उन प्रणालियों पर विचार करूंगा जो पुराने समय में प्रचलित थीं या आज उन मानव जातियों में हैं जो कम सभ्य हैं। उसके बाद मैं पश्चिमी सभ्यता में प्रचलित प्रणाली की विशेषताओं को लूंगा और अन्त में इस पर विचार करूंगा कि किन-किन दृष्टियों से इस प्रणाली में संशोधन होना चाहिए और किन बातों के आधार पर आशा की जा सकती है कि यह संशोधन हो सकेगा ।

परन्तु निर्दोष व्यक्तियों को डरा-धमका कर उनसे पैसा वसूलने वालों को अवसर मिल जाता है। जहां तक रति-रोगों का सम्बन्ध है, उनके बारे में यह सोचा जाता है कि वे पाप का उचित दण्ड हैं और इसी कारण वे उपाय नहीं अपनाए जाते जो चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से बहुत ही प्रभावी होते हैं। साधारणतया रति-रोगों को लज्जाजनक माना जाता है और इसलिए लोग इन्हें छिपाते हैं। परिणाम यह होता है कि इनका समय पर और पर्याप्त इलाज नहीं हो सकता।

इसके बाद हम जनसख्या के प्रश्न को लेते हैं। यह अपने आप में एक बहुत बड़ी समस्या है और इस पर कई दृष्टिकोणों से विचार करना चाहिए। माताओं के स्वास्थ्य का प्रश्न है, बच्चों के स्वास्थ्य का प्रश्न है और यह प्रश्न है कि छोटे या बड़े परिवारों का बच्चों के चरित्र पर क्या-क्या प्रभाव पड़ेगा। ये समस्या के वे पहलू हैं जो स्वास्थ्य सम्बन्धा क्षेत्र में आते हैं। फिर व्यक्तिगत और सार्व-जनिक दोनों प्रकार के आर्थिक पहलू आते हैं: जैसे परिवार का प्रति व्यक्ति धन या परिवार के आकार को ध्यान में रखते हुए समुदाय का धन और या समु-दाय का जन्म-दर। इस प्रश्न के साथ इस बात का भी गहरा सम्बन्ध है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर जनसंख्या का क्या प्रभाव पड़ता है और विश्व में शान्ति बनाए रखने की कहां तक सम्भावना है॥ और अन्तिम प्रश्न यह है कि समुदाय के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार के मरण और जन्म-दरों के फल-स्वरूप नस्ल सुधर रही है या बिगड़ रही है। ऊपर जिन दृष्टिकोणों की व्याख्या की गयी है उन सभी से किसी यौन नैतिकता की परीक्षा करने के बाद ही पक्के-पोढ़े आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह उचित है या निंदनीय। सुधारक और प्रतिक्रियादादी दोनों ही की यह आदत रही है कि वे समस्या के एक या दो ही पहलुओं पर विचार करते हैं। और ऐसा तो यदा-कदा ही होता है कि व्यक्तिगत और राजनीतिक दृष्टिकोणों का समावेश हो, लेकिन फिर भी यह कहना असम्भव-सा है कि इन दोनों में से कौन दूसरे की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। और हम पहले से ही यह निश्चय नहीं कर सकते कि जो प्रणाली व्यक्ति के दृष्टिकोण से अच्छी है वह राजनीतिक के दृष्टिकोण से भी अच्छी होगी और जो प्रणाली राजनीतिक के दृष्टिकोण से अच्छी है, वह व्यक्ति के दृष्टिकोण

से भी अच्छी होगी । मेरा अपना विश्वास है कि अधिकतर युगों और स्थानों में अस्पष्ट मनोवैज्ञानिक शक्तियों के प्रभाव में आ कर मानव ने ऐसी प्रणालियां अपनाई हैं जिनमें बिल्कुल अनावश्यक कठोरता निहित है और आजकल भी बहुत सी सभ्य जातियों में ऐसा ही होता है। मेरा यह भी विश्वास है कि चिकित्सा और स्वास्थ्य विज्ञान में जो प्रगति हुई है उसके कारण व्यक्तिगत और सार्वजनिक दोनों दृष्टिकोणों से यौन नैतिकता में परिवर्तन होने चाहिएं। और दूसरी ओर, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, शिक्षा में राज्य के बढ़ते हुए अधिकार क्षेत्र के कारण धीरे-धीरे पिता का उतना महत्व नहीं रह पाया है जितना कि अब तक के सम्पूर्ण इतिहासकाल में रहा है । इसलिए आज की नैतिकता की आलोचना करते समय हमें दो बातों का ध्यान रखना है। एक तो हमें अंधविश्वास के उन तत्वों को मिटाना है, जो बहुधा उपचेतन में होते हैं और दूसरे उन बिल्कुल नए तत्वों को ध्यान में रखना है, जिनके कारण पुराने युगों की बुद्धिमत्ता आज के युग की बुद्धिमत्ता बनने के स्थान पर आज की मूर्खता बन गयी है ।

आज की प्रणाली को उसके ठीक परिपार्श्व में देखने के लिए मैं पहले उन प्रणालियों पर विचार करूंगा जो पुराने समय में प्रचलित थीं या आज उन मानव जातियों में हैं जो कम सभ्य हैं। उसके बाद मैं पश्चिमी सभ्यता में प्रचलित प्रणाली की विशेषताओं को लूंगा और अन्त में इस पर विचार करूंगा कि किन-किन दृष्टियों से इस प्रणाली में संशोधन होना चाहिए और किन बातों के आधार पर आशा की जा सकती है कि यह संशोधन हो सकेगा ।

अध्याय २

मातृ सत्तात्मक समाज

विवाह सम्बन्धी रिवाजों में सदा तीन तत्वों का सम्मिश्रण रहा है, जिन्हें मोटे तौर पर क्रमशः सहजवृत्तिमूलक, आर्थिक और धार्मिक कहा जा सकता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा इस क्षेत्र में इन तत्वों में स्पष्टतया भेद किया जा सकता है, दुकानें रविवार को बंद रहती हैं, इस तथ्य का उद्गम चाहे धार्मिक रहा हो परन्तु अब यह आर्थिक तथ्य बन गया है। यौन सम्बन्धी बहुत सी विधियों और रिवाजों पर भी यही बात लागू होती है। जिस उपयोगी रिवाज का उद्गम धर्म हो, वह धार्मिक आधार की महत्ता कम हो जाने के बाद भी बहुधा अपनी उपयोगिता के कारण जीवित रहता है। यह भेद करना भी कठिन है कि कौन सा तत्व सहजवृत्तिमूलक है और कौन सा धार्मिक, जिन धर्मों का मनुष्यों के कृत्यों पर बड़ा प्रभुत्व हो, उनका आधार भी साधारणतया सहजवृत्तिमूलक ही होता है। परन्तु उन में परम्परा के महत्व और इस आधार पर भेद किया जा सकता है कि सहजवृत्ति के आधार पर जो कृत्य सम्भव हैं उनमें से कुछ को अन्यों की अपेक्षा अधिक अच्छा माना जाता है। उदाहरण के लिए, प्रेम और ईर्ष्या दोनों सहजवृत्तिमूलक भावनायें हैं; परन्तु धर्म ने यह फ़तवा दिया है कि ईर्ष्या की भावना सत् पर आधारित है जिसका समर्थन समुदाय को करना चाहिए, और प्रेम को तो अधिक से अधिक क्षम्य ही माना गया है।

यौन सम्बन्धों में सहजवृत्ति का तत्व उतना नहीं है जितना कि समझा जाता है। इस पुस्तक के प्रयोजन के लिए मैं मानवशास्त्र का उल्लेख वहीं तक करूंगा जहां तक कि आज की समस्याओं पर प्रकाश डालने के लिए आवश्यक है, परन्तु एक ऐसा पहलू है जिसमें हमारे प्रयोजनों के लिए विज्ञान अतीव आव-

श्यक है : वह यह दिखाना है कि बहुत सी रीतियां, जिन्हें हम सहजवृत्ति के विरुद्ध समझते हैं, सहजवृत्ति से साथ विशेष संघर्ष में आए बिना लम्बे काल तक चलती रह सकती हैं। उदाहरण के लिए, न केवल असभ्य बल्कि कुछ अपेक्षाकृत सभ्य जातियों में भी यह सामान्य व्यवहार रहा है कि कुमारी कन्याओं का कौमार्य भंग धर्मगुरु अधिकृत रूप से (और कई बार सार्वजनिक रूप से) करते हैं। ईसाई देशों में यह विचार प्रचलित रहा है कि कौमार्य भंग का परमाधिकार दूल्हा को ही होना चाहिए और अधिकतर ईसाई, कम से कम हाल ही के समय तक, धार्मिक आधार पर कौमार्य भंजन के प्रति अपनी अरुचि को सहजवृत्तिमूलक ही मानते हैं। अतिथि के सत्कार के लिए अपनी पत्नी को उस के पास भेज देने की प्रथा भी ऐसी है, जिसे आधुनिक योरुपवासी सहजवृत्ति के आधार पर अरुचिकर मानते हैं लेकिन यह बहुत प्रचलित रही है। स्त्रियों द्वारा बहुविवाह की प्रथा भी ऐसी है जिसे कम पढ़े गोरे लोग मानवीय स्वभाव के विरुद्ध मानेंगे। शिशु-हत्या इससे भी बढ़ कर मानवीय स्वभाव के विपरीत जान पड़ेगी; लेकिन तथ्य यह है कि आर्थिक दृष्टिकोण से जहां भी यह लाभदायक है, वहाँ इसे बहुत इच्छापूर्वक अपनाया जाता है। सच तो यह है, कि जहां तक मानवों का सम्बन्ध है, सहजवृत्ति असाधारणतया अस्पष्ट होती है और अपने सहज मार्ग से बड़ी सरलता से भ्रष्ट हो जाती है। यह बात वहशी लोगों और सभ्य समुदाय दोनों पर बराबर लागू होती है। सच तो यह है कि जो बात असभ्यता से इतनी दूर हो जितनी कि सेक्सीय मामलों में मानवीय व्यवहार, उसके लिए "सहजवृत्ति" शब्द ही उपयुक्त नहीं है। इस क्षेत्र में एक ही काम है जिसे शुद्ध मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से सहजवृत्तिमूलक कहा जा सकता है और वह है शैशवावस्था में स्तन चूसना। मैं नहीं जानता कि असभ्य जातियों में क्या स्थिति है लेकिन सभ्य जातियों के लोगों को तो मैथुन क्रिया सीखनी पड़ती है। विवाह के कुछ वर्ष बाद दम्पत्ति द्वारा डाक्टरों से यह पूछना असाधारण नहीं है, कि सन्तान प्राप्ति के लिए क्या किया जाय। और ऐसे मामलों में डाक्टरी परीक्षा के बाद यही मालूम हुआ है कि उस दम्पति को यह मालूम ही नहीं था कि सम्भोग कैसे किया जाता है। इसलिए, देखा जाय तो मैथुन क्रिया वास्तव में सहजवृत्ति-

मूलक नहीं है, यद्यपि इसके प्रति नैसर्गिक झुकाव और वह कामना अवश्य है जिसकी पूर्ति इसके बिना आसानी से नहीं होती। बल्कि जहां तक मानवों का सम्बन्ध है, व्यवहार करने के ढंग की बात बिल्कुल वैसी नहीं है जैसी कि अन्य जीवों में पाई जाती है और उस अर्थ में सहजवृत्ति का स्थान एक और तत्व ले लेता है जो कि उससे भिन्न होता है। मानवों में तो यह होता है कि प्रारम्भ में एक असन्तोष होता है जिसके कारण थोड़ी बहुत अपूर्ण कार्यवाहियां यत्र-तत्र की जातीं हैं। लेकिन धीरे-धीरे मनुष्य, थोड़ा बहुत संयोगवश ही, उस क्रिया तक पहुँचता है जिससे उसे सन्तोष मिलता है और इसीलिए उसकी पुनरावृत्ति की जाती है। इस प्रकार परिशोधित क्रिया नहीं बल्कि उसे सीखने का मनोवेग सहजवृत्तिमूलक है। और बहुधा ऐसा होता है कि सन्तोष प्रदान करने वाली क्रिया निश्चय ही पूर्वनिर्धारित नहीं होती, यद्यपि जीवशास्त्र के दृष्टिकोण से सबसे अधिक लाभकारी क्रिया साधारणतया सबसे अधिक सम्पूर्ण सन्तोष प्रदान करने वाली होती है। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि विरोधी आदतें पड़ने से पहले ही उसे सीख लिया जाय।

इस बात को देखते हुए कि आधुनिक युग में सभी सभ्य समाज पितृसत्तात्मक कुटुम्ब पर आधारित हैं और स्त्रियों के सतीत्व की सारी धारणा इसीलिए बनी है कि पितृसत्ता समाज सम्भव हो सके, यह जानना आवश्यक है कि पितृत्व के मनोभाव की उत्पत्ति किन सहज आवेगों के कारण हुई। जो व्यक्ति मननशील नहीं हैं वे इस प्रश्न को जितना सरल समझ लेते हैं, यह उतना सरल नहीं है। बच्चे के प्रति मां की भावना ऐसी नहीं है जिसे समझना कठिन हो, क्योंकि, कम से कम दूध छुड़ाने तक तो, मां बच्चे का परस्पर गहरा शारीरिक सम्बन्ध होता है। परन्तु बच्चे के साथ पिता का सम्बन्ध अप्रत्यक्ष, उपकल्पनात्मक और निष्कर्पात्मक होता है : यह अपनी पत्नी के सतीत्व पर विश्वास करने से सम्बन्धित है और इसलिए बौद्धिकता के क्षेत्र से इतना गुम्फित है कि इसे समुचित रूप से सहजवृत्तिमूलक नहीं कहा जा सकता। या यदि यह मान लिया जाय कि पितृत्व का मनोवेग अपनी ही सन्तान की ओर होगा तो कम से कम यह अवश्य ऐसा लगेगा। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि यह बात सच ही

हो। मेलेनेशियाई लोगों को पता ही नहीं कि पिता भी होते हैं, फिर भी उनमें पिता अपनी सन्तान से उतना ही स्नेह करते हैं जितना कि वे लोग, जिन्हें अपनी सन्तान का ज्ञान होता है। मालिनॉफ़्स्की ने ट्रोब्रियाण्ड द्वीपवासियों के सम्बन्ध में जो पुस्तकें लिखी हैं उनसे पितृत्व की मनोभावना पर बहुत प्रकाश पड़ा है। जिस जटिल मनोभावना को हम पितृत्व कहते हैं, उसे समझने के लिए उसकी तीन पुस्तकों—**सेक्स एण्ड रिप्रेशन इन सैवेज सोसाइटी, द फ़ादर इन प्रिमिटिव सोसायटी, और द सेक्सुअल लाइफ़ ऑफ़ सैवेजेज इन नार्थ-वेस्ट मेलेनेशिया**—का अध्ययन अनिवार्य है। सच तो यह है कि दो सुस्पष्ट कारण हैं, जिनसे पुरुष किसी बच्चे में रुचि लेने लगता है। सम्भवतः वह इसलिए बच्चों में रुचि लेता है कि उसे विश्वास है कि बच्चा उसका है, या इसलिए कि उसे मालूम है कि बच्चा उस की पत्नी का है। जहां सन्तानोत्पत्ति में पिता के महत्व का ज्ञान नहीं है, वहां इन में से दूसरी प्रेरणा ही प्रभावी होती है।

यह बात मालिनॉफ़्स्की ने पूर्णतया प्रमाणित कर दी है, और इसमें सन्देह को कोई स्थान नहीं कि ट्रोब्रियाण्ड द्वीपवासियों के पिता नहीं होते। उदाहरण के लिए, उसने देखा कि जब कोई पुरुष एक साल या उससे अधिक देर तक यात्रा करने के बाद लौट कर आता है और देखता है कि उसकी पत्नी नवजात शिशु को लिए फिर रही है, तो वह बहुत प्रसन्न होता है और योरुप वासियों के उन संकेतों को समझ ही नहीं पाता जिनसे उसकी पत्नी के सतीत्व पर सन्देह प्रकट होता है। इससे भी अधिक विश्वास दिलाने वाली बात यह है, जैसा कि मालिनॉफ़्स्की ने देखा, कि जिस व्यक्ति के पास बढ़िया नस्ल के सुअर हैं, वह सारे नर सुअरों को बधिया कर देता है और यह नहीं समझता कि इससे नस्ल बिगड़ जायगी। वहां यह माना जाता है कि प्रेत बच्चों को लाते हैं और माताओं की कोख में रख जाते हैं। यह माना जाता है कि कुमारी कन्याओं को गर्भ नहीं ठहर सकता, लेकिन इसका कारण यह समझा जाता है कि योनि की झिल्ली शिशु लाने वाले प्रेतों के लिए बाधा का काम देती है। अविवाहित पुरुष और कन्याएं परस्पर स्वतन्त्र प्रेम का जीवन बिताती हैं और किसी अज्ञात कारण से ऐसा बहुत कम होता है कि अविवाहित कन्याओ को गर्भ रह जाता हो। अद्भुत बात

तो यह है कि यदि उन्हें गर्भ रह जाय तो अपमान की बात समझा जाता है; यद्यपि वहां के लोगों की विचारधारा के अनुसार इन कन्याओं का कोई भी कृत्य उनके गर्भिणी होने के लिए उत्तरदायी नहीं माना जाता। कन्याएं कभी न कभी विभिन्न पुरुषों के साथ सम्बन्धों से उकता जाती हैं और विवाह कर लेती हैं। विवाह के बाद कन्या अपने पति के गांव चली जाती है, लेकिन उसे और उसकी सन्तान को उसी गांव का समझा जाता है, जहां से वह आई हो। यह नहीं माना जाता कि उसके पति का अपने बच्चों के साथ कोई रक्त-सम्बन्ध है और मातृवंश के अनुसार वंश आगे चलता है। अन्य स्थानों में पिताओं को अपनी सन्तान पर जो अधिकार रहता है, ट्रोब्रियाण्ड द्वीपवासियों में वह अधिकार मामा को होता है। लेकिन इस सम्बन्ध में एक अद्भुत जटिलता भी है। भाई-बहिन के परस्पर सम्बन्धों के बारे में रूढ़ निषेध बहुत कड़ा है; बड़े होने पर वे आपस में किसी भी ऐसे विषय पर बातचीत नहीं कर सकते जिस का सेक्स के साथ तनिक भी सम्बन्ध हो। इस का परिणाम यह होता है कि यद्यपि सन्तान पर उनके मामा को अधिकार रहता है, लेकिन वह उन्हें तभी मिल सकता है जब कि बच्चे अपनी मां और घर से दूर हों। इस प्रशंसनीय प्रणाली के कारण बच्चों को ऐसा स्नेह प्राप्त होता है जिसमें अनुशासन का अंश नहीं होता और जिसका अस्तित्व और कहीं नहीं है। उनका पिता उन के साथ खेलता है और स्नेहपूर्ण व्यवहार करता है परन्तु वह उन्हें कोई आज्ञा नहीं दे सकता, और दूसरी ओर, उनका मामा उन्हें आज्ञा तो दे सकता है लेकिन उसे उनके साथ रहने का अधिकार नहीं है।

अद्भुत बात है कि एक ओर तो यह विश्वास किया जाता है कि बच्चे और उसकी मां के पति के बीच कोई रक्त सम्बन्ध नहीं है और दूसरी ओर यह माना जाता है कि बच्चों का रंग-रूप उन की मां के पति से मिलता हो न कि अपनी मां या उसके भाई-बहिनों से। यह बड़ी अशिष्टता मानी जाती है कि कोई यह कहे कि भाई और बहिन की शक्लें मिलती हैं या बच्चा अपनी मां जैसा है। इसलिए जहां स्पष्ट रूप से रंग-रूप एक जैसा हो भी, तो वहां उसका बल-पूर्वक खण्डन किया जाता है। मालिनॉफ़्स्की का विचार है कि बच्चों के प्रति पिता का स्नेह इस विश्वास से उत्पन्न होता है कि उसकी सन्तान अपनी मां के स्थान पर उस

से मिलती-जुलती है। उसने देखा कि सभ्य जातियों की अपेक्षा इन लोगों में पिता-पुत्र के सम्बन्ध में बहुधा अधिक अनुकूलता होती है और जैसी कि आशा थी, उसने देखा कि इन लोगों में ईडिपस ग्रंथि का कोई चिन्ह नहीं मिलता।

मालिनॉफ़्स्की ने इस द्वीप समूह में अपने मित्रों के साथ बहुत तर्क-वितर्क किया लेकिन उसने देखा कि उन्हें यह नहीं समझाया जा सकता कि पितृत्व नाम की कोई वस्तु है। उनका विचार था कि मिशनरियों ने ही यह बेहूदा कहानी गढ़ी है। ईसाई धर्म पितृसत्ता पर आधारित धर्म है और जो लोग पितृत्व को ही नहीं मानते वे उसे अपने मस्तिष्क या भावनाओं से नहीं समझ सकते। "परम पिता परमात्मा" की बजाय "परम मामा परमात्मा" कहना पड़ेगा। परन्तु इससे सम्पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती क्योंकि पितृत्व में अधिकार और प्रेम दोनों निहित हैं जब कि मेलेनेशिया में अधिकार तो मामा को है पर प्रेम का अधिकारी पिता है। ट्रोब्रियाण्ड द्वीपवासियों को यह बात नहीं समझाई जा सकती कि मनुष्य परमात्मा की सन्तान है, क्योंकि उनके विचार से कोई भी किसी पुरुष की सन्तान नहीं होता। परिणाम यह हुआ है कि मिशनरियों को पहले शरीर विज्ञान के तथ्य बताने पर विवश होना पड़ता है और उसके बाद ही वे धर्म का प्रचार कर पाते हैं। मालिनॉफ़्स्की को पढ़ने से पता चलता है कि उन्हें अपने इस प्रारम्भिक काम में कोई सफलता नहीं मिली और इसीलिए वे धर्मशास्त्र (बाइबिल) की शिक्षा प्रारम्भ करने में कुछ भी प्रगति नहीं कर पाए।

मालिनॉफ़्स्की कहता है, और मेरा विचार है कि उसका कथन अवश्य सत्य है, कि यदि कोई पुरुष अपनी स्त्री की गर्भावस्था और सन्तान होने पर उसके साथ रहता है, तो शिशु के जन्म के बाद उसके प्रति स्नेह का सहज रुझान उसमें होता है और यही पितृत्व के मनोभाव का आधार है। उसका कहना है कि "मनुष्य में पितृत्व के सम्बन्ध में, जिसमें पहली दृष्टि में जीवाणु सम्बन्धी नींव का सर्वथा अभाव दीखता है, यह प्रमाणित किया जा सकता है कि इस की जड़ें नैसर्गिक देन और आंगिक आवश्यकता में हैं।" उसका विचार है कि यदि पुरुष अपनी पत्नी की गर्भावस्था में उससे दूर रहे तो प्रारम्भ में बच्चे के प्रति उसका स्नेह सहज नहीं होगा। यद्यपि यदि प्रथा और कबीले की नैतिकता उसे मां और बच्चे के

साथ सम्बन्ध रखने दे तो बच्चे के प्रति स्नेह का विकास उसी प्रकार होगा मानो वह गर्भावस्था में ही मां के साथ रहा हो। सभी महत्वपूर्ण मानव-सम्बन्धों में, सामाजिक दृष्टि से वांछनीय क्रियाएं, जिनके प्रति सहजवृत्ति इतनी शक्तिशाली नहीं होती कि विवश कर सके, सामाजिक नैतिकता के कारण लागू होती हैं। असभ्य जातियों में भी ऐसा ही होता है। प्रथा का आदेश है कि मां का पति उसके बच्चों की देख-रेख करेगा और जब तक वह बड़े नहीं होते उनकी रक्षा करेगा, और इस सम्बन्ध में प्रथा को लागू करना कठिन नहीं है, क्योंकि सामान्यतया यह सहजवृत्ति के अनुकूल है।

मेलेनेशिया में सन्तान के प्रति पिता के रवैये की व्याख्या करने के लिए मालिनॉफ़्स्की जिस सहजवृत्ति का उल्लेख करता है, मेरे विचार में वह उससे कहीं अधिक सामान्य है, जिसका उल्लेख उसकी पुस्तकों में किया गया है। मेरा विचार है कि प्रत्येक पुरुष या स्त्री में उस बच्चे के प्रति स्नेह की प्रवृत्ति रहती है, जिसकी देखभाल उसे करनी पड़ती हो। प्रारम्भ में कोई वयस्क व्यक्ति चाहे प्रथा या रूढ़ि और चाहे वेतन के प्रलोभन से बच्चे की देख-भाल करने लगे, अधिकतर व्यक्तियों को केवल इस कारण स्नेह हो जायगा कि वह उस बच्चे को देखभाल करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जहां बच्चा उस स्त्री का हो, जिससे प्रेम किया जाता हो, वहां इस भावना को और भी बल मिलता है। इसलिए यह तथ्य बोधगम्य है कि ये वहशी व्यक्ति अपनी पत्नी की सन्तान के प्रति काफ़ी स्नेह दिखाते हैं और यह बात निश्चित मानी जा सकती है कि सभ्य पुरुष अपनी सन्तान से जो स्नेह करते हैं, उस में एक बहुत बड़ा तत्व यह भी रहता है। मालिनॉफ़्स्की का मत है—और यह समझना कठिन है कि उसका खण्डन कैसे किया जाय—कि सारी मानवता अवश्य ही उस मंज़िल में से गुज़री होगी जिसमें ट्रोब्रियाण्ड द्वीप समूह की जनता आज गुज़र रही है। यह इसलिए भी कि एक ऐसा युग अवश्य आया होगा जब पितृत्व का अभिज्ञान किसी को भी नहीं था। पशुओं के परिवार में यदि पिता का स्थान है, तो उसका आधार भी अवश्य ऐसा होगा, क्योंकि और कोई आधार हो ही नहीं सकता। पितृत्व का तथ्य मालूम होने के बाद, पितृत्व की मनोभावना उस रूप में जिससे हम आज सुपरिचित हैं, केवल इन्सानों में ही आ सकती है।

पितृसत्तात्मक प्रणालियाँ

पितृत्व के शारीरिक तथ्य को स्वीकार कर लेते ही पितृत्व की भावना में एक नये तत्व का समावेश हो जाता है और उस तथ्य का परिणाम लगभग सभी स्थानों पर पितृसत्तात्मक समाजों की स्थापना के रूप में हुआ है। ज्यों ही पिता यह समझने लगता है कि बच्चा उसका, जैसा कि बाइबिल में कहा है, "अंकुर" है, बच्चे के प्रति उसके मनोभाव को दो तत्वों द्वारा बल मिलता है: शक्ति का प्रेम और मृत्यु के बाद जीवित रहने की इच्छा। किसी व्यक्ति की सन्तान की उपलब्धियां एक अर्थ में उसकी अपनी उपलब्धियां होती हैं और उनका जीवन उसके अपने जीवन का ही प्रवाह होता है। आकांक्षा का अन्त अब उसके अपने अन्त के साथ नहीं हो जाता बल्कि उसे वह अपनी सन्तान के कृतत्वों के माध्यम से अनिश्चित काल के लिए जारी रख सकता है। उदाहरण के लिए, आप सोचिए कि जब अब्राहम को बताया गया कि कैनॉन का देश उसकी सन्तान को प्राप्त होगा, तो उन्हें कितना सन्तोष हुआ होगा। मातृवंशज समाज में, कुटुम्ब की आकांक्षा स्त्रियों तक ही सीमित रहेगी और चूंकि स्त्रियाँ संघर्ष नहीं करतीं इसलिए, इस प्रकार की कुटुम्ब सम्बन्धी आकांक्षायें पुरुषों की तुलना में कम प्रभावी होंगी। यह माना जा सकता है कि पितृत्व का पता चल जाने पर मानव समाज मातृवंशज अवस्था की अपेक्षा अधिक स्पर्धाशील, अधिक ऊर्जस्वी और अधिक गतिशील होगा और तेज़ी से आगे बढ़ेगा। इस प्रभाव के अतिरिक्त, जो कि कुछ सीमा तक उपकाल्पनिक है, पत्नियों के सतीत्व पर ज़ोर देने का एक नया और सभी प्रकार से महत्वपूर्ण कारण था। ईर्ष्या में कोरा सहजवृत्तिमूलक तत्व उतना बलवान नहीं है जितना कि आधुनिक युग के अधिकांश व्यक्ति सकते हैं।

पितृसत्तात्मक समाजों में ईर्ष्या की उत्कटता इस डर के कारण है कि कहीं उसकी पत्नी किसी अन्य पुरुष के साथ सम्पर्क के कारण सन्तानोत्पत्ति न कर दे। यह बात इस तथ्य से प्रकट होती है कि जो पुरुष अपनी पत्नी से ऊब चुका हो और अपनी जारिणी के प्रेम में फंसा हुआ हो, वह अपनी जारिणी के साथ किसी और पुरुष का प्रेम होने पर इतना ईर्ष्यालु नहीं होता जितना कि उस समय जब कोई पुरुष उसकी पत्नी से प्रेम करने लगे। औरस शिशु पुरुष के अहं का प्रसार है और बच्चे के लिए उसका स्नेह अहं का ही रूप है। परन्तु, दूसरी ओर, यदि बच्चा औरस न हो, तो उसका तथाकथित पिता झांसे में आकर उसका भरण-पोषण करता है, यद्यपि जीवशास्त्र की दृष्टि से उसके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए पितृत्व का तथ्य मालूम हो जाने पर, स्त्रियों की परतन्त्रता का श्रीगणेश हुआ क्योंकि उसके सतीत्व को अक्षुण्ण रखने का यही एकमात्र ढंग था। प्रारम्भ में यह परतन्त्रता शारीरिक थी, फिर मानसिक हुई और विक्टोरिया युग में चरम-सीमा तक पहुँच गई। स्त्रियों की परतन्त्रता के कारण, अधिकतर सभ्य समुदायों में पति पत्नी के बीच साथियों जैसी भावना नहीं रही; उनका सम्बन्ध इस प्रकार का रहा है कि पति मानों अनुकम्पा कर रहा है और पत्नी जो कुछ करती है अपना कर्त्तव्य समझ कर करती है। पुरुष ने सदा अपने गम्भीर विचार और प्रयोजन अपने तक ही रखे हैं क्योंकि उसे डर रहा कि उसने अपने विचार प्रकट किये तो कहीं उसकी पत्नी उसके साथ विश्वासघात न करे। अधिकतर सभ्य समुदायों में स्त्रियों को संसार और उसके कार्य-व्यापार का लगभग कोई भी अनुभव नहीं होने दिया गया। उन्हें कृत्रिम रूप से मूढ़ बनाए रखा गया और इस लिए उनमें अरोचकता बनी रही। प्लेटो के डायलाग्ज़ से यह आभास होता है कि वह और उसके मित्र यह समझते थे कि सच्चे प्रेम के समुचित पात्र पुरुष ही हैं। जब आप यह देखें कि ये लोग जिन मामलों में रुचि रखते थे, वे एथस की संभ्रान्त महिलाओं के लिए निषिद्ध थे, तो उन की विचारधारा पर आश्चर्य नहीं होगा। अभी हाल तक यही स्थिति चीन में थी; ईरानी काव्य के महान् युग में और बहुत से देशों और युगों में भी यही परिस्थिति रही है। सन्तान की ओर सत्ता निश्चित करने की इच्छा के कारण स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध के रूप में प्रेम की

महत्ता ही समाप्त कर दी गई है। और न केवल प्रेम ही, बल्कि वह समूचा योग-दान भी इस कारण से अविकसित रहा, जो कि स्त्रियाँ सभ्यता के निर्माण में कर सकती हैं।

वंशानुक्रम निर्धारित करने की विधि का रूप बदला तो उस के साथ की अर्थ प्रणाली में भी परिवर्तन हुआ जैसा कि स्वाभाविक ही था। मातृवंशज समाज में व्यक्ति को दाय अपने मामा से मिलती है और पितृवंशज समाज में अपने पिता से। पितृवंशज समाज में पिता-पुत्र का सम्बन्ध उससे कहीं अधिक निकट है जो कि मातृवंशज समाज में दो पुरुषों के बीच हो सकता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, इसका कारण यह है कि जो कृत्य स्वाभाविक रूप से पिता के कृत्य माने जाते हैं, वे मातृवंशज समाज में पिता और मामा में बांट दिये जाते हैं: स्नेह और देख-रेख पिता करता है और अधिकार मामा को है और उसी से सम्पत्ति प्राप्त होती है। इसीलिए यह स्पष्ट है कि पितृसत्तात्मक कुटुम्ब अधिक आदिम ढंग के कुटुम्ब की अपेक्षा अधिक सुचारु रूप से गठित है।

ऐसा मालूम पड़ता है कि पितृसत्तात्मक प्रणाली के प्रारम्भ पुरःस्थापन के साथ ही पुरुषों में इस कामना का प्रादुर्भाव हुआ कि उनकी दुलहनें अक्षत योनि हों। जहां मातृवंशज समाज है, वहां तो युवतियां भी युवकों के समान स्वच्छंद रूप से मौज उड़ाती हैं परन्तु जब स्त्रियों को यह अनुभव कराने का बहुत महत्व हो गया कि विवाह के पहले या बाद में किसी अन्य पुरुष के साथ सम्भोग बहुत बुरी बात है, तब यह स्थिति सहन नहीं की जा सकती थी।

पिताओं को अपने अस्तित्व का ज्ञान हो गया तो वे सभी स्थानों पर इस तथ्य से यथासम्भव अधिकाधिक लाभ उठाने लगे। सभ्यता का इतिहास मुख्यतया पिता की शक्ति के क्रमशः ह्रास का इतिहास है, जो कि ऐतिहासिक अभिलेख के प्रारम्भ के कुछ पहले अधिकतर सभ्य देशों में चरम सीमा तक पहुँच गया था। पूर्वजों की पूजा, जो हमारे युग में अभी तक चीन और जापान में विद्यमान है, प्रारम्भिक सभ्यता की विशेषता थी और सारे संसार में प्रचलित थी। पिता को अपनी सन्तान पर निरंकुश शक्ति प्राप्त थी और कई दशाओं में, जैसे कि रोम में, सन्तान का जीवन-मरण भी पिता के हाथ में था। सारे सभ्य संसार में पुत्रियां

और कई देशों में पुत्र भी, अपने पिता की अनुमति के बिना विवाह नहीं कर सकते थे और पिता के लिए यह निर्णय करना सामान्य बात थी कि वे किससे विवाह करें। स्त्री का अपने जीवन के किसी काल में भी स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था, पहले वह अपने पिता के अधीन रहती थी और उसके बाद अपने पति के। लेकिन इसके साथ ही बूढ़ी-स्त्रियों को अपने घराने में लगभग निरंकुश शक्ति प्राप्त थी; उसके पुत्र और बहुएं उसी घर में रहती थीं और बहुएं पूर्णतया उसके अधीन रहती थीं। आज भी चीन में ऐसी घटनाओं का अभाव नहीं है कि विवाहित युवतियां अपनी सासों के उत्पीड़न के कारण आत्महत्या तक करने पर तुल जाती हैं, और आज जो कुछ चीन में होता दिखाई देता है, कुछ समय पहले तक योरुप और एशिया के सभी सभ्य देशों में होता था। जब ईसा ने कहा था कि मैं पुत्र को पिता और बहू को सास से लड़ाने आया हूँ, तो वे ऐसे ही घरानों की बात सोच रहे थे, जो आज भी सुदूर पूर्व में मिलते हैं। पिता प्रारम्भ में जो शक्ति अपने अधिक बल के कारण प्राप्त करता था, उसकी पुष्टि धर्म द्वारा होती थी; जिसके अधिकतर रूपों की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि वे इस आस्था पर आधारित थे कि देवता प्रशासन के साथ हैं। पूर्वजों की पूजा या उसी प्रकार की कोई वस्तु व्यापक रूप से प्रचलित थी। जैसा कि हम देख ही चुके हैं, इसाईयत के धार्मिक विचार पितृत्व की महत्ता की भावना से ओत-प्रोत थे। समाज की राजतांत्रिक और अभिजाततांत्रिक व्यवस्था तथा आनुवंशिकता की प्रणाली सभी जगह पितृत्व की शक्ति पर आधारित थी। प्रारम्भिक काल में आर्थिक प्रेरणाओं के कारण यह प्रणाली जीवित थी। "उपोद्घात" (बाइबिल का पहला अध्याय, जैनेसिस) को देखने से पता चलता है कि पुरुष कैसे यह चाहते थे कि उनके अधिकाधिक सन्तान हो और अधिक सन्तान उनके लिए कैसी लाभदायक थी, अधिकाधिक पुत्र संख्या भी उतनी ही लाभदायक थी जितनी की भेड़-बकरी आदि पशुओं की अधिक संख्या। इसी कारण उन दिनों में यावे ने आज्ञा दी थी कि फलो-फूलो और अधिकाधिक सन्तान उत्पन्न करो।

परन्तु सभ्यता की प्रगति के साथ आर्थिक परिस्थितियां बदलीं और धर्माज्ञाएं जो किसी समय स्वहित के प्रति प्रबोधन मात्र थी, अब उकता देने वाली

बनने लगीं। जब रोम समृद्धिशाली बन गया तो धनी वर्ग के लोगों के परिवार पहले के समान बड़े नहीं रहे। रोम की महानता के युग के बाद की शताब्दियों में कुलीन वंश धीरे-धीरे समाप्त होते जा रहे थे, यद्यपि नीति-उपदेशकों के प्रबोधन वैसे ही चलते रहे, लेकिन उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा, जैसे कि आजकल नहीं पड़ता। तलाक़ बड़ा सरल और सामान्य हो गया। उच्च वर्गों की स्त्रियों ने, पुरुषों के लगभग बराबर ही स्थिति प्राप्त करली और कुलपिता की शक्ति का ह्रास होने लगा। यह प्रवृत्ति भी कई प्रकार से वैसी ही थी जैसी कि आज के युग में पाई जाती है लेकिन यह उच्च वर्गों तक ही सीमित थी और जो व्यक्ति इतने धनी नहीं थे कि इससे लाभ उठा सकते, उन्हें यह बहुत बुरी लगती थी। हमारी सभ्यता के बिपरीत, प्राचीन काल की सभ्यता कुछ गिने-चुने लोगों तक ही सीमित थी और इस कारण उसे हानि पहुँचती थी। इसी कारण जब तक यह सभ्यता जीवित रही, इसके अनुयाइयों के लिए जोखिम बना रहा और अन्त में यह निम्न वर्ग के अंधविश्वास के तीव्र प्रवाह में बह गई। ईसाइयत और बर्बर जातियों के आक्रमण ने यूनानी और रोम की विचार-प्रणाली को नष्ट कर दिया। जब तक पितृसत्तात्मक प्रणाली रही, और प्रारम्भ में इसे रोम की अभिजाततंत्र प्रणाली की तुलना में बल मिला, इसे एक नए तत्व के अनुकूल बनना पड़ा। वह नया तत्व था, सेक्स के सम्बन्ध में ईसाई मत का दृष्टिकोण और व्यक्तिवाद, जिस का उद्गम आत्मा और मुक्ति के सम्बन्ध में ईसाई मत का सिद्धान्त था। कोई भी ईसाई समुदाय इतनी स्पष्टता के साथ अपने को जीवशास्त्र पर आधारित नहीं मानता, जितनी कि प्राचीन काल और सुदूरपूर्व की सभ्यताएं। इसके सिवा ईसाई समुदायों के व्यक्तिवाद का प्रभाव धीरे-धीरे ईसाई देशों की नीति पर पड़ा; और व्यक्तिगत अमरत्व के आश्वासन के कारण, लोगों में वह रुचि कम हो गई, जो वे अपनी सन्तान के जीवित रहने में लेते थे, और जो प्रारम्भ में उन्हें अमरत्व के लिए सर्वोत्तम रास्ता दिखाई पड़ती थी। आधुनिक समाज में, यद्यपि यह अभी तक पितृवंशक है और कुटुम्ब अभी तक जीवित है, पुरातन समाजों की अपेक्षा पितृत्व को बहुत कम महत्ता दी जाती है। और कुटुम्ब के सदस्यों की संख्या भी पहले की अपेक्षा बहुत कम हो गई है। आज

पुरुषों की आशाएं और आकांक्षाएं "उपोद्घात" में उल्लिखत पिताओं की तुलना में अत्यधिक भिन्न हैं। वे अधिकाधिक सन्तान उत्पन्न करने के स्थान पर राज्य में अपने रुतबे से महानता प्राप्त करना चाहते हैं। यह परिवर्तन भी उन कारणों में से एक है, जिनसे परम्परागत नैतिकता और धर्मशास्त्र का उतना जोर नहीं रहा जितना कि पहले था। तो भी यह सच है कि यह परिवर्तन स्वयं ईसाई धर्मशास्त्र का अंग है। यह समझने के लिए कि यह परिवर्तन कैसे हुआ हमें इस बात की व्याख्या करनी पड़ेगी कि धर्म ने विवाह और कुटुम्ब के बारे में लोगों के विचारों पर कैसे प्रभाव डाला है।

लिंग-पूजा, संयम और पाप

पितृत्व के तथ्य का पता चलने के बाद से ही सेक्स, धर्म के लिए बड़ी रुचि का विषय रहा है। यह स्वाभाविक ही है क्योंकि धर्म का प्रत्येक उस बात से सम्बन्ध रहता है जो रहस्यमयी और महत्वपूर्ण हो। कृषि और पशु-पालन की अवस्थाओं के प्रारम्भिक काल में लोगों के लिए फलदेयता का ही मुख्य महत्व था, चाहे वह फ़सलों की हो, या भेड़-बकरियों की या स्त्रियों की। फ़सलें हमेशा ही फलती-फूलती नहीं थीं और सम्भोग के फलस्वरूप सदा गर्भ भी नहीं ठहरता। वांछित फल पाने के लिए जादू-टोने की शरण ली जाती थी। टोने के सम्बन्ध में सामान्य धारणाओं के अनुरूप यह समझा जाता था कि मानवीय प्रजनन शक्ति बढ़ा कर भूमि की उर्वरता को भी प्रोत्साहन दिया जा सकता है, और मानवीय प्रजनन शक्ति को भी जिस की कामना बहुत से आदिम समुदायों में की जाती थी, विभिन्न धार्मिक संस्कारों और जादू-टोने द्वारा बढ़ावा दिया जाता था। प्राचीन मिस्र में, जहां पर ऐसा लगता है कि मातृवंशक काल की समाप्ति से पहले ही कृषि का उदय हुआ, वहां पहिले-पहल धर्म में सेक्स का तत्व लैंगिक नहीं था बल्कि उसका सम्बन्ध नारी की यौनि से था। यह समझा जाता कि यौनि की सूरत कौड़ी से मिलती-जुलती है और इसलिए लोग यह मानते थे कि कौड़ी में जादूई शक्तियां है। इसीलिए कौड़ी मुद्रा के रूप में भी चलने लगी। परन्तु यह दौर शीघ्र ही बीत गया और अधिकतर प्राचीन सभ्यताओं के समान ही, बाद के मिस्र में भी धर्म में सेक्स के तत्व ने लिंग-पूजा का रूप धारण कर लिया। इस सम्बन्ध में प्रमुख तथ्यों का बहुत अच्छा संक्षिप्त वर्णन सेक्स इन सिविलिज़ेशन

नामक पुस्तक के एक अध्याय में मिलता है, जिसके लेखक रॉबर्ट ब्रिफ़ाल्ट हैं।[1] उन्होंने लिखा है :[2]

"कृषि—और विशेषकर बीज बोने और फ़सल काटने—से सम्बन्धित उत्सव, प्रत्येक देश और काल में, सामान्य यौन अनर्गलता के ज्वलंत उदाहरण हैं।...अल्जीरिया के कृषि-कार्य में लगे लोग अपनी स्त्रियों की यौन अनर्गलता पर कोई प्रतिबन्ध लगाने का विरोध इसलिए करते हैं क्योंकि उन का विचार है कि सेक्स-सम्बन्धी नैतिकता लागू करने के किसी भी प्रयत्न से उन के कृषि-कार्यों की सफलता पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। एथेन्स के थेस्मोफ़ोरिया, अर्थात बीजारोपण-उत्सवों, में उर्वरा-शक्ति के जादू की मूल विशेषता का स्वरूप देखने को मिलता है; यद्यपि उसमें पहले जितनी तीव्रता नहीं रही। इसमें स्त्रियां लिंग चिन्ह लिए घूमती थीं और अश्लील बकवास करतीं थीं। रोम में बीजारोपण-उत्सवों को सैटर्नालिया कहा जाता था; उन के बाद दक्षिणी योरुप में कार्निवाल नाम के उत्सव प्रारम्भ हुए। इन उत्सवों का एक विशेष पहलू यह था कि सियो और डोहोमे जातियों में बहु प्रचलित लिंग चिन्हों जैसे कुछ ही भिन्न चिन्हों का प्रयोग होता था। हाल ही के समय तक इन उत्सवों की यही एक विशेषता थी।"

संसार के बहुत से भागों में चन्द्रमा को (उसे पुल्लिग माना जाता है) बच्चों का सच्चा पिता समझा जाता था।[3] इस विचार का सम्बन्ध निस्संदेह चन्द्र-पूजा से है। चन्द्र और सूर्य के पुजारियों और चन्द्र और सूर्य के तिथि-पत्रों के बीच अद्भुत संघर्ष रहा है जिसका हमारे प्रस्तुत विषय से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। तिथिपत्र का धर्म में सदा से महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इंगलैण्ड में अठारहवीं शताब्दी तक और रूस में १६१७ की क्रान्ति तक ग्रिगोरियन तिथिपत्र गलत होते हुए भी केवल इस कारण प्रचलित रहा कि उसे पोप का अनुमोदन प्राप्त

---

१. वा० एफ़० क्लेवर्टन और एस० डी० श्माल्हॉसन द्वारा सम्पादित, जिस की प्रस्तावना हेवलॉक एलिस ने लिखी है। प्रकाशक, जार्ज एलेन एण्ड अनविन लिमिटेड; लन्दन; १६२६।

२. इसी पुस्तक का पृष्ठ ३४।

३. माओरी राज्य में "सभी स्त्रियों का स्थायी या सच्चा पति चन्द्रमा है। हमारे पूर्वजों और बड़े-बूढ़ों के ज्ञान के अनुसार, पति पत्नी के विवाह का तो कोई महत्व नहीं, क्योंकि सच्चा पति तो चन्द्रमा है।" इस तरह के विचारों का अस्तित्व विश्व के अधिकांश भागों में रहा है और स्पष्ट है कि ये विचार पितृत्व के अज्ञान की अवस्था से पितृत्व के महत्व के सम्पूर्ण अभिज्ञान की अवस्था तक के संक्रमण का प्रतिनिधित्व करते हैं। ब्रिफ़ॉल्ट, पूर्वोक्त पुस्तक के पृष्ठ ३७ पर।

है। इसी प्रकार चन्द्रमा के पुजारी सभी देशों में बिल्कुल ही ग़लत चन्द्रमा-तिथिपत्र का समर्थन करते आये हैं और सूर्य के तिथि-पत्र का प्रभुत्व धीरे-धीरे और आंशिक रूप से स्थापित हुआ। मिस्र में तो एक बार इसी संघर्ष के कारण गृह-युद्ध छिड़ गया था। यह मान सकते हैं कि झगड़ा व्याकरण सम्बन्धी था : "चन्द्रमा" पुल्लिग है या स्त्रीलिंग। जर्मन भाषा में आज तक "चन्द्रमा" शब्द पुल्लिग ही है। चन्द्र-पूजा और सूर्य-पूजा दोनों ने ही ईसाई मत में भी अपने-अपने चिन्ह छोड़े हैं क्योंकि भगवान मसीह का जन्म २२ दिसम्बर को हुआ था, जब कि सूर्य भूमध्य रेखा से अधिकाधिक दूर होता है और उनकी मृत्यु ईस्टर पूर्णिमा को हुई थी। यद्यपि यह कहना तो दुस्साहस होगा कि आदिम सभ्यता में विवेकशीलता का अंश था, परन्तु यह निष्कर्ष भी अनिवार्य-सा है कि जहां कहीं भी सूर्य के पुजारियों की विजय हुई—इस स्पष्ट तथ्य के कारण हुई कि फ़सलों पर चन्द्रमा की अपेक्षा सूर्य का अधिक प्रभाव पड़ता है। इसी लिए रोम का बीजारोपण समारोह (सैटर्नालिया) साधारणतया वसन्त ऋतु में होता था।

प्राचीन काल के सभी अनीश्वरवादी धर्मों में लिंग-पूजा के बहुत से तत्व विद्यमान थे और ईसाई धर्मगुरुओं को इस कारण शास्त्रार्थ के लिए बड़ी सामग्री मिली। लेकिन उन के शास्त्रार्थ के बावजूद, मध्य युग में लिंग-पूजा के चिन्ह निरन्तर बने रहे। अन्त में केवल प्रोटेस्टेंटवाद ही इस का नाम-निशान मिटाने में सफल हुआ।

> फ़्लैंडर्स और फ्रांस में लिंग-पूजा के समर्थक सन्तों की कमी नहीं थी, उदाहरणार्थ ब्रिटानी के सेन्ट गाइल, अंजू के सेन्ट रेने, बूर्ज़ के सेन्ट ग्रेलूशों, सेन्ट रेनॉद और सेन्ट आरनॉद। दक्षिणी फ्रांस में सबसे अधिक लोकप्रिय सेन्ट फ़ूतिंन थे। कहा जाता है कि वे ल्योंस के पहले बिशप थे। जब फ्रांस के प्रोटेस्टेन्ट समुदाय, हूगेना के अनुयाइयों ने एम्बू में उन के पूजा-स्थान को नष्ट कर दिया तो उस के ध्वंसावशेष के नीचे पवित्र देव का असाधारण लिंग निकला। उसके आराधक अर्चना करते समय उस पर मद्य उंडेलते थे, जिस से उस का रंग लाल पड़ गया था। उसके बाद वे उस मद्य को बांझपन और नपुन्सकता की रामबाण औषधि समझ कर पी जाते थे।[1]

१. देखिये ब्रिफ़ॉल्ट, पूर्वोल्लिखित पुस्तक में, पृष्ठ ४०।

पवित्र वेश्यावृत्ति (देवदासी प्रथा) एक और प्रथा थी, जिसका प्राचीन युग में अत्यधिक प्रचलन था। कई स्थानों पर साधारण सम्भ्रान्त स्त्रियां मन्दिरों में जाती थीं और वहां के पुजारियों या किसी भी नवागंतुक से सम्भोग करा लेती थीं। इसके अतिरिक्त पुजारिनें स्वयं पवित्र वेश्याएँ (देवदासियां) थीं। ऐसी प्रथाओं का जन्म सम्भवतः इसी कारण हुआ कि लोग देवताओं की अनुकूलता से स्त्रियों में प्रजनन शक्ति का संचार करना चाहते थे या टोने द्वारा फल की फलदेयता बढ़ाने का यत्न करते थे।

अब तक हम धर्म के उन तत्वों पर विचार करते रहे हैं, जो सेक्स के पक्ष में हैं, परन्तु सेक्स विरोधी तत्वों का अस्तित्व भी प्रारम्भ से साथ ही साथ रहा है। और अन्त में जहां भी ईसाई या बौद्ध मत का प्रभुत्व रहा है, सेक्स विरोधी तत्वों ने सेक्स-सम्बन्धी तत्वों पर पूर्ण विजय प्राप्त करली है। वेस्टरमार्क ने[1] इस "अद्भुत धारणा" के बहुत से उदाहरण दिये हैं कि 'विवाह में कुछ अपवित्र और पापपूर्ण बात है जो कि सामान्यतः सेक्स-सम्बधों में होती है।' संसार के विभिन्न भागों में, जो ईसाई या बौद्ध मत के प्रभाव से दूर रहे, पुजारियों और पुजारिनों के ऐसे सम्प्रदाय रहे हैं, जिन्होंने ब्रह्मचर्य का व्रत ले रखा था। यहूदियों के एसेने नामक सम्प्रदाय में सभी प्रकार के मैथुन को अपवित्र माना जाता था। मालूम होता है कि प्राचीन काल में उन क्षेत्रों में भी इस दृष्टिकोण की जड़ें जम गई थीं, जो ईसाई मत के कट्टर विरोधी थे। सच तो यह है कि रोमन साम्राज्य में भी संयम की ओर सामान्य रुझान था। सुसंस्कृत यूनानियों और रोमवासियों में एपीक्यूरियस के विचार सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का लगभग उपसंहार हो गया और उसके स्थान पर स्टोइकवाद का उदय हुआ। एपोक्राइफ़ा (यूनानी ओल्ड टेस्टामेंट जो हीब्रू भाषा में बाइबिल में सम्मिलित नहीं की गयी) में कुछ ऐसे अंश हैं जिनसे स्त्रियों के प्रति अनासक्ति की भावना झलकती है। इसके विपरीत ओल्ड टेस्टामेंट के प्राचीन संस्करणों में पौरुष की सुदृढ़ भावना दिखाई पड़ती है। (तीसरी शताब्दी में प्लेटो के सिद्धान्तों में पूर्व के रहस्यवाद का सम्मिश्रण हुआ) इस नव-प्लेटो दर्शन के अनुयायी भी ईसाइयों के समान ही

---

१. हिस्ट्री ऑफ़ ह्यूमन मैरेज, पृष्ठ १५१।

आत्मसंयमी थे। ईरान से यह मत पश्चिम में आया कि भौतिक पदार्थ असत् हैं और इसी के साथ ही साथ यह विश्वास आया कि सभी प्रकार का मैथुन अपवित्र हैं। चर्च (ईसाई धर्म) का भी यह विश्वास है, भले ही उसमें अधिक उत्कटता नहीं है; परन्तु चर्च की बात हम अगले अध्याय में ही करेंगे। स्पष्ट बात तो यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में व्यक्ति स्वतः सेक्स को भयावह मानने लगता है, परन्तु यह मनोवेग भी उतना ही स्वाभाविक है जितना कि सेक्स के आकर्षण का अधिक सामान्य मनोवेग। यह जानने के लिए कि कौन-सी सेक्स प्रणाली मानव-स्वभाव के लिए अधिक सन्तोषप्रद होगी, उपरोक्त बातों को ध्यान में रखना पड़ेगा और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसे समझना पड़ेगा।

प्रारम्भ में ही यह कह देना चाहिए कि इस प्रकार की अभिवृत्ति का स्रोत विश्वासों में ढूंढ़ना व्यर्थ होगा। पहली बात तो यह है कि इस प्रकार के विश्वासों को किसी भावावस्था से प्रेरणा ही मिलती है। यह तो सच है कि एक बार अस्तित्व में आने के बाद विश्वास भावावस्था को, और नहीं तो कृत्यों को भावावस्था के अनुरूप स्थायी बना सकते हैं। परन्तु यह नहीं हो सकता कि सेक्स विरोधी भिवृत्ति केवल विश्वासों के ही कारण हो। मेरा विचार है कि इस प्रकार की अभिवृत्ति के दो मुख्य कारण ईर्ष्या और सेक्स-सम्बन्धी थकान होते हैं। ईर्ष्या चाहे कम मात्रा में हो, उससे सम्भोग के प्रति जुगुप्सा उत्पन्न होती है और सेक्स को जगाने वाली भूख घृणित मालूम पड़ती है। पूर्णरूप से सहजवृत्ति के अनुसार काम करने वाले पुरुष का बस चले, तो वह तो यही चाहेगा कि सभी स्त्रियां और किसी से भी नहीं सिर्फ उसी से प्रेम करें। उनका किसी अन्य पुरुष से प्रेम-सम्बन्ध हो जाये तो उसके मनोभाव आसानी से नैतिक निन्दा रूप धारण कर लेते हैं। और जब उसकी अपनी पत्नी किसी अन्य पुरुष से प्रेम करने लगे तब तो विशेषकर ऐसा होता है। उदाहरण के लिए शेक्सपियर के साहित्य से मालूम पड़ता है कि उसके नाटकों के पुरुष पात्र यही नहीं चाहते कि उनकी पत्नियां कामतुरा हों। शेक्सपियर के अनुसार, आदर्श नारी वह है जो अपने पति के प्रेमालिंगन को कर्त्तव्य समझकर स्वीकार करती है, लेकिन किसी प्रेमी के बारे में उस ढंग से सोचेगी भी नहीं, क्योंकि उसके लिए तो सेक्स ही अवांछनीय है और उसे वह केवल

इसलिए सहन कर लेती है कि नैतिक विधि की यही आज्ञा है। सहजवृत्ति के अनुसार चलने वाले पति को जब यह मालूम होता है कि उसकी पत्नी ने उसके साथ विश्वासघात किया है तो उसके मन में अपनी पत्नी और उसके प्रेमी के प्रति जुगुप्सा का भाव जागता है और वह इसी निष्कर्ष पर पहुँच सकता है कि सभी प्रकार का सेक्स पशु-वृत्ति है। यदि वह अतिकाम या बुढ़ापे के कारण नपुंसक हो गया हो तो विशेषकर ऐसा होता है। अधिकतर समाजों में युवकों की अपेक्षा बड़े-बूढ़ों का प्रभाव अधिक रहता है, इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि सेक्स के मामलों में जोशीले युवकों के विचार अधिकृत और ठीक नहीं माने जा सकते।

सेक्स-सम्बन्धी थकान की संकल्पना सभ्यता की देन है। पशुओं में तो यह बिल्कुल नहीं होगी और असभ्य लोगों में भी नहीं के बराबर होती होगी। जहां एक-विवाह प्रणाली हो वहाँ सेक्स की थकान हो भी तो बहुत कम सीमा तक हो सकती है क्योंकि नवीनता का उद्दीपन ही पुरुषों को शारीरिक क्रिया के अतिरेक की ओर ले जा सकता है। जहां स्त्रियों को यह स्वतन्त्रता हो कि वे जिस पुरुष से चाहें प्रेम करें और जिसे चाहें ठुकरा दें, वहां भी इस थकान की सम्भावना नहीं है; क्योंकि उस दशा में मादा-पशुओं की तरह वे प्रत्येक सम्भोग से पहले प्रेमोप-सेवन चाहेंगी और तब तक आत्मसमपर्ण करने के लिए तैयार नहीं होंगी, जब तक उन्हें इस बात का ज्ञान न हो जाये कि पुरुष की वासना उचित रूप से उद्दीप्त हो गई है। परन्तु सभ्यता ने इस सहज भावना और आचरण को दुर्लभ बना दिया है। इसके विलोपन में सबसे बड़ा हाथ आर्थिक-तत्व का रहा है। स्त्रियां विवाहित हों या वेश्याएं, वे अपने सेक्स के आकर्षण के कारण ही जीविका कमाती हैं और इसलिए केवल उसी समय आत्मसमर्पण नहीं करतीं जब उनकी काम-वृत्ति उन्हें उकसाती है। प्रेमोपसेवन सेक्स सम्बन्धी थकान को रोकने का नैसर्गिक परित्राण है और उपरोक्त कारण से ही उसका महत्व घट गया है। परिणामस्वरूप जिन पुरुषों पर कड़ी नैतिकता का बन्धन नहीं रहता, उनका रुझान अतिकाम की ओर रहता है, जो कि अन्त में थकान और जुगुप्सा की भावनाओं को जन्म देता है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि ऐसे पुरुष संयम में विश्वास करने लगते हैं।

जहां ईर्ष्या और सेक्स-सम्बन्धी थकान का समावेश हो जाय, जैसा कि बहुधा होता है, वहां सेक्स विरोधी आवेश की तीव्रता और अधिक बढ़ सकती है। मेरे विचार में यही मुख्य कारण है कि बहुत अधिक अनर्गल समाजों में ही संयम का विकास होने का रुझान रहता है।

परन्तु ऐतिहासिक तत्व के रूप में ब्रह्मचर्य के कुछ और भी स्रोत हैं। देवताओं की आराधना का व्रत लेने वाले पुजारी और पुजारिनें उन देवी देवताओं के साथ विवाहित माने जा सकते हैं और उन्हें मानवों के साथ सभी प्रकार के सहवास का परिवर्जन करना पड़ता है। स्वाभाविक ही है कि इन्हें असाधारण रूप से पवित्र माना जाये और इस प्रकार पवित्रता और ब्रह्मचर्य में एक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। आज के युग में भी केथॉलिक चर्च (सम्प्रदाय) में ननों (भिक्षुणियों) को मसीह की दुल्हन माना जाता है। निश्चय ही, पुरुषों से उनके सम्भोग को दुष्टतापूर्ण माने जाने का एक कारण यह भी है।

मुझे लगता है कि हमने जिन कारणों पर विचार किया है, उनके अतिरिक्त कुछ अन्य अधिक अस्पष्ट कारण भी थे, जो प्राचीन विश्व के उत्तर-युग में बढ़ते हुए संयम के लिए उत्तरदायी थे। ऐसे काल आए हैं जब जीवन आनन्दमय दिखाई पड़ता था, जब पुरुष बलिष्ठ थे और पार्थिव जीवन के सुख सम्पूर्ण सन्तोष के लिए पर्याप्त मालूम पड़ते थे। और ऐसे भी काल आए हैं जब लोग थके-थके से थे, संसार और सांसारिक आनन्द पर्याप्त नहीं थे और पार्थिव जगत के नैसर्गिक शून्य के अभाव की पूर्ति के लिए परलोक या आध्यात्मिक शान्ति की खोज रहती थी। "सॉंग ऑफ़ सॉंग्ज़" के रचियता सोलोमन की तुलना **एक्लेज़्यास्ट** के सुलेमान से कीजिए: पहला तो पुरातन संसार की गरिमा का प्रतिनिधि है और दूसरा उसके पतन का। मैं दावे से नहीं कह सकता कि इस का क्या कारण है। सम्भवतः यह कारण बड़ा सरल और शारीरिक कारण था, जैसे कि नगरों के अकर्मण्य जीवन के स्थान पर खुली हवा में सक्रिय जीवन बिताना। सम्भवतः स्टोइक विचार सम्प्रदाय के अनुयाइयों के यकृत ठीक से काम नहीं कर रहे थे। सम्भवतः एक्लेज़्यास्ट के लेखक का यह विचार कि सब कुछ मिथ्या है इसीलिए था कि वह पर्याप्त व्यायाम नहीं करता था।

कारण जो भी रहा हो, इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार की भावावस्था आसानी से सेक्स की निन्दा की ओर ले जा सकती है। सम्भवतः जो कारण हमने बतलाये हैं उनके सिवा कुछ और दूसरे कारणों से भी अति प्राचीन काल के उत्तर-युग में लोगों में सामान्यतया थकान बढ़ी और इस थकान की एक विचित्रता संयमित जीवन बिताने की भावना भी थी। दुर्भाग्यवश, इसी ह्रासोन्मुख और विकृत काल में ईसाई धर्म की नैतिकता का निर्माण हुआ। बाद के युग के ओजस्वी पुरुषों ने जीवन के प्रति उस दृष्टिकोण के अनुसार जीने का यथासम्भव प्रयत्न किया है, जो विकृत, विथकित और विभ्रमित व्यक्तियों ने अपने लिए चुना था—ये लोग जीवशास्त्रीय मूल्यों और मानव जीवन की सतत शृंखला की समझ-बूझ खो बैठे थे। परन्तु यह चर्चा हमारे अगले अध्याय का विषय है।

ईसाई नैतिकता

वेस्टरमार्क ने लिखा है : "विवाह की जड़ें कुटुम्ब में हैं, न कि कुटुम्ब की विवाह में।" ईसा-पूर्व समय में यह बात स्वयं सिद्ध ही थी परन्तु ईसाई मत के उदय के बाद ऐसा महत्व-पूर्ण साध्य बन गई है जिस पर ज़ोर देने की आवश्यकता है। ईसाई मत, और विशेषकर सेन्ट पॉल ने, विवाह के सम्बन्ध में एक बिल्कुल ही नया दृष्टिकोण संसार के सामने रखा। उन्होंने कहा, विवाह का मुख्य प्रयोजन सन्तानोत्पत्ति नहीं बल्कि अनूढ़ागमन को रोकना है।

विवाह के सम्बन्ध में सेन्ट पॉल के विचार अपने फ़र्स्ट एपिस्टल टु द क्रिश्चियन (कोरिन्थियन जनता के नाम पहले पत्र) में बड़ी स्पष्टता से प्रकट किए गए हैं। ऐसा मालूम होता है कि वहां के ईसाइयों ने अपनी विमाताओं के साथ अनुचित सम्बन्ध रखने की विचित्र रीति अपना ली थी (कोर १, खण्ड १) और इसलिए सेन्ट पॉल ने सोचा कि इस स्थिति का दृढ़तापूर्वक सामना करना चाहिए। उन्होंने अपने पत्र में निम्नलिखित विचार प्रकट किए :[1]

१. आपने मुझे जिन बातों के सम्बन्ध में लिखा, उन पर मुझे यह कहना है : पुरुष के लिए अच्छा तो यही है कि वह स्त्री को छुए भी नहीं।
२. फिर भी अनूढ़ागमन को रोकने के लिए, प्रत्येक पुरुष के एक पत्नी हो और प्रत्येक स्त्री का अपना एक पति।
३. पति को चाहिए कि पत्नी के प्रति उचित हितैषणा रखे और उसी प्रकार पत्नी भी अपने पति की हित कामना करे।
४. पत्नी को अपने शरीर पर कोई अधिकार नहीं; यह अधिकार उसके पति को है और पति को अपने शरीर पर अधिकार नहीं; यह अधिकार उसकी पत्नी को है।

---

१. कोर० १, खण्ड ७, १-६।

५. परस्पर एक दूसरे की अनुमति हो तो दूसरी बात है अन्यथा आपस में एक दूसरे को धोखा मत दो। व्रत रखो और ईश्वर से प्रार्थना करो; और उसके बाद फिर इकट्ठे हो जाओ जिससे कि शैतान तुम्हें संयमहीनता के कारण प्रलोभन न दे सके।
६. परन्तु यह मैं तुम्हारी अनुमति से ही कह रहा हूँ, तुम्हें आज्ञा नहीं दे रहा।
७. काश कि सभी स्त्री-पुरुष मेरे जैसे होते। परन्तु ईश्वर ने प्रत्येक मानव को अनोखे ढंग का बनाया है; किसी में एक विशेषता है तो किसी में दूसरी।
८. इसलिए मैं अविवाहितों और विधवाओं से कहता हूँ कि 'तुम्हारे लिए संयम और विरक्ति ही एकमात्र मार्ग है', जिसका एक अनुयायी मैं भी हूँ।
९. परन्तु यदि वे संयम से न रह सकें तो विवाह कर लें क्योंकि जलते रहने की बजाय विवाह कर लेना अच्छा है।

इस उद्धरण से पता चलता है कि सेन्ट पॉल ने बच्चों का कोई उल्लेख नहीं किया। विवाह के जीवशास्त्रीय प्रयोजन का उनके लिए तनिक भी महत्व नहीं था। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि वे समझते थे कि भगवान मसीह का पुनरावतरण (अवतार) होने ही वाला है और संसार का अन्त समीप है। पुनरावतरण के बाद मानवों को भेड़ों और बकरियों में बाँट दिया जायेगा और वास्तविक महत्व केवल इस बात का है कि उस समय आप भेड़ों में सम्मिलित कर लिए जायें। सेन्ट पॉल का मत है कि मैथुन, चाहे विवाह के बाद ही हो, मुक्ति प्राप्त करने की चेष्टा में बाधक होता है। (कोर १, खण्ड ८, ३२-३४) फिर भी विवाहितों का परित्राण सम्भव है, परन्तु अनूढ़ागमन घोर पाप है, और जो अनूढ़ागामी प्रायश्चित नहीं करेगा, वह अपने को बकरियों में पाएगा।[1] मुझे याद है कि एक बार एक डाक्टर ने कहा था कि मैं तम्बाकू पीना छोड़ दूँ और यह आदत छोड़ने के दौरान में जब कभी तलब हो तो खट्टी-मीठी गोलियां चूस लूँ क्योंकि इससे यह आदत छोड़ने में बड़ी मदद मिलेगी। सेन्ट पॉल ने भी विवाह का परामर्श कुछ इसी ढंग से दिया है। उनका यह कहना नहीं कि विवाह में भी उतना ही आनन्द है जितना कि अनूढ़ागमन में, परन्तु उनके विचार में दुर्बल मन वाले

---

१. भगवान मसीह के सच्चे अनुयायी उन की 'भेड़ें' कहलाते हैं, जो उनके नेतृत्व में मोक्ष प्राप्त करेंगे और 'बकरियां' वे पापी हैं, जो अपने पापों का दण्ड भोगने नरक में जायंगे—अनुवादक

व्यक्तियों को विवाह के बाद प्रलोभन से बचने में सहायता मिलेगी। वे यह नहीं कहते कि विवाह में कोई प्रत्यक्ष लाभ है, या पति-पत्नी का प्रेम कोई सुन्दर या वांछनीय वस्तु है, और न उन्हें कुटुम्ब में ही कोई रुचि है। उनके विचारों में तो प्रमुख स्थान अनूढ़ागमन का है और उनकी सारी सेक्स-सम्बन्धी नैतिक संहिता इसी को ध्यान में रख कर गढ़ी गई है। यह तो वैसी ही बात है मानो कोई यह कहे कि रोटी बनाने का एकमात्र कारण यह है कि लोग केक न चुराने लगें। सेन्ट पॉल हमें यह बताने का कष्ट नहीं करते कि उनके विचार में अनूढ़ागमन इतना बुरा क्यों है। ऐसा मालूम होता है कि मोज़िज़ के सिद्धान्तों का परित्याग करके और इस प्रकार सूअर का मांस खाने योग्य होकर, वे यह दिखाना चाहते हैं कि उनकी नैतिकता भी उतनी ही कड़ी है जितनी कि कट्टर यहूदियों की थी। संभवतः कई युग तक सूअर के मांसाहार का निषेध होने के कारण, यहूदियों को वह भी अनूढ़ागमन जितना ही स्वादु लगता था और इसलिए सेन्ट पॉल को अपने धर्म में सात्विकता और संयम के तत्वों पर इतना बल देने की आवश्यकता प्रतीत हुई।

ईसाई धर्म में सभी प्रकार के अनूढ़ागमन की निन्दा एक नई बात थी। प्रारम्भिक सभ्यता की अधिकतर आचार-संहिताओं समान, **ओल्ड टेस्टामेंट** में भी परस्त्रीगमन का निषेध है परन्तु परस्त्रीगमन को विवाहित स्त्री से सम्भोग के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। **ओल्ड टेस्टामेंट** को ध्यान से पढ़ें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है। उदाहरण के लिए, जब अब्राहम अपनी पत्नी सारा के साथ मिस्र में गया तो वहां के राजा के सामने उसे अपनी बहिन कहा। राजा ने इस बात का विश्वास करके सारा को रनिवास में ले लिया परन्तु जब बाद में उसे पता चला कि सारा अब्राहम की पत्नी है तो उसे यह सोच कर बड़ा धक्का पहुँचा कि उसने अनजाने में पाप किया है। उसने अब्राहम को उलाहना दिया कि उस ने सच्ची बात क्यों छिपाई? प्राचीन काल में सामान्यतया इसी प्रकार की आचार-संहिता थी। जो स्त्री अपने पति के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष से सम्भोग कराती थी उसे कुलटा माना जाता था किन्तु पुरुष की निन्दा तभी की जाती थी जबकि उसने किसी अन्य की पत्नी के साथ सम्भोग किया हो। उस दशा में उसे सम्पत्ति के प्रति अपराध (सम्पत्ति अपहरण) का दोषी माना जाता था जैसा कि हम सेन्ट

पॉल से दिये गये उद्धरणों में देख चुके हैं। ईसाई मत की यह धारणा कि अपने पति या पत्नी को छोड़ किसी अन्य के साथ सम्भोग अनैतिक बात है, इस विचार पर आधारित थी कि सभी प्रकार का लैंगिक सम्भोग, यहां तक कि पति और पत्नी का परस्पर मैथुन भी, खेदजनक है। समझ-बूझ वाले व्यक्ति इस प्रकार की भावना को, जो जैविकीय तथ्यों के भी विरुद्ध है, विकृत बुद्धिभ्रम ही मानेंगे। यह धारणा ईसाई नैतिकता का स्थायी अंग है और इसी कारण ईसाई धर्म का अपना समूचा इतिहास एक ऐसी शक्ति रहा है जिस का रुझान मानसिक विकारों और जीवन के सम्बन्ध में अस्वस्थ धारणाओं की ओर रहा है।

चर्च के प्रारम्भिक काल में ईसाई गुरुओं ने सेन्ट पॉल के विचारों पर बल दिया और उन्हें बढ़ा-चढ़ा कर बताया। ब्रह्मचर्य को पवित्र माना जाता था और लोग शैतान से संघर्ष करने के लिए, जो उनकी कल्पना में वासनामय दृश्य भर देता था, मरुभूमि में तपस्या करने चले जाते थे।

चर्च ने स्नान करने की आदत पर आक्षेप किए। वे कहते थे कि जिस बात से शरीर अधिक आकर्षक बनता हो, वह पाप की ओर ले जाती है। गंदगी की प्रशंसा की जाती थी और 'पवित्रता' की दुर्गन्ध में वृद्धि होती जाती थी। सेन्ट पॉल ने कहा--'शरीर और वस्त्रों की पवित्रता का अर्थ है, आत्मा की अपवित्रता।'[१] जूंओं को दैवी मोती कहा जाता था और साधुजन का अनिवार्य चिन्ह यह था कि उसका शरीर जूंओं से भरा हुआ हो।

> परन्तु एकान्तवासी सेन्ट अब्राहम ने, जो ईसाई धर्म स्वीकार करने के बाद पचास वर्ष तक जिए, धर्म परिवर्तन की तिथि से ही अपना मुंह या पैर धोने से इनकार किया। कहा जाता है कि वह बहुत ही सुन्दर पुरुष थे और उनके जीवनी लेखक ने कुछ अजब-सी बात लिखी है कि "उनके मुख पर आत्मा की झलक" थी। सेन्ट एम्मॉन ने कभी कपड़े ही नहीं बदले थे। सिल्विया नाम की एक सुविख्यात कुमारी अपनी आदतों के कारण शारीरिक रोगों से पीड़ित थी। उसकी आयु साठ वर्ष की थी और उसने धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार आयु पर्यन्त अपने हाथों की अंगुलियों को छोड़ शरीर का कोई भी अंग धोने से इनकार किया। सेन्त यूफ्राई भिक्षुणियों के एक मठ में गयीं, जहां १३० भिक्षुणियां रहती थीं। उन्होंने कभी अपने पैर तक नहीं धोए थे और

---

१. हैवलॉक एलिस : स्टडीज़ इन द साइकॉलॉजी ऑफ़ सेक्स, खण्ड ४, पृष्ठ ३१।

स्नान का नाम सुन कर कांप उठती थीं। एक बार एक एकान्तवासी तपस्वी ने मरुभूमि में एक नंगे व्यक्ति को देखा जिसका शरीर नंगे रहने के कारण मैल और धूल से काला पड़ गया था और सफ़ेद बाल हवा में उड़ रहे थे। उसने सोचा कि शैतान ही दूसरे रूप में मेरी हँसी उड़ाने आया है। वह व्यक्ति मिस्र की सेन्ट मेरी थीं, जो किसी समय सुन्दरी थी और अब ४७ वर्षों से अपने पापों का प्रायश्चित कर रही थी। भिक्षु कभी-कभी अपना स्वभाव बदल कर स्वच्छता पर उतर आते थे, जिसके लिए उनकी घोर निन्दा की जाती थी। अलग्ज़ेन्डर नाम के एक एबट (मठाधिपति) ने अपने पूर्वजों का रोना रोते हुए कहा था: "हमारे पूर्वज अपना मुंह भी नहीं धोते थे, परन्तु हम सार्वजनिक स्नानागारों में जाते हैं।" मरुभूमि में स्थित एक मठ के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वहां पर पानी के अभाव के कारण भिक्षुओं को बड़ा कष्ट होता था। परन्तु एबट थ्योडिसियस की प्रार्थना पर वहां एक झरना बहने लगा। पानी की प्रचुर मात्रा देख कर कुछ भिक्षु लोभ-संवरण नहीं कर सके और पुरानी मितव्ययता के पथ से भ्रष्ट हो गए। उन्होंने एबट को इस बात के लिए तैयार कर लिया कि झरने पर एक स्नानागार बना दिया जाय। स्नानागार तो बन गया, किन्तु भिक्षुक केवल एक बार ही वहाँ नहा पाये थे कि झरना बहना बन्द हो गया। इस पर उन्होंने ईश्वर से प्रार्थना की, रोए-धोए, व्रत रखा किन्तु किसी भी बात का प्रभाव नहीं पड़ा। पूरा एक वर्ष बीत गया। अन्त में एबट ने उस स्नानागार को तोड़ डाला, जिस पर दैवी प्रकोप था। और झरना फिर बहने लगा।[1]

स्पष्ट है कि जहाँ सेक्स के सम्बन्ध में ऐसे विचार प्रचलित होंगे वहां सेक्स-सम्बन्ध होंगे भी तो उनका रुझान नृशंसता और कर्कशता की ओर ही होगा, जैसा कि मद्यनिषेध के अन्तर्गत मद्यपान का होता है। इस प्रकार प्रेम-कला भुला दी गई और विवाह में नृशंसता का तत्व आ गया।

"तपस्वियों ने लोगों के मन पर जितेन्द्रियता की महत्ता की गहरी और अमिट छाप छोड़ी परन्तु इसका सद्प्रभाव, विवाह पर उनके हानिकर प्रभाव के कारण समाप्त हो गया। आदि गुरुओं के साहित्य में से विवाह प्रथा के दो-तीन सुन्दर वर्णन उद्धृत किए गए हैं, परन्तु इसके सम्बन्ध में उनकी जो साधारण धारणा थी, उससे अधिक भद्दी या अनाकर्षक वस्तु की कल्पना करना भी कठिन है। प्रकृति ने जिस सम्बन्ध की रचना मृत्यु के आघात से हुई क्षति की पूर्ति के उत्तम उद्देश्य से की है, और जो—

१. डब्ल्यू० ई० एच० लेके: हिस्ट्री ऑफ़ योरोपियन मॉरेल्स, खण्ड २, पृष्ठ ११७-११८।

जैसा कि लिनेयस ने प्रमाणित किया है—पुष्पों तक में है, उसे सदा आदम के पतन का परिणाम समझा जाता था। इस प्रकार विवाह को, लगभग पूर्ण रूप से, उसके निकृष्टतम पहलू में देखा जाता था। इस बात की लगभग उपेक्षा ही कर दी जाती थी कि इसके परिणामस्वरूप सुकोमल प्यार जागता है और सुन्दर तथा सात्विक घरेलू गुणों की उत्पत्ति होती है। तपस्वियों का उद्देश्य यह था कि लोगों को ब्रह्मचर्य-जीवन की ओर आकृष्ट किया जाय, फलस्वरूप विवाह को घटिया अवस्था माना जाता था। विवाह को मानव जाति को बनाए रखने और लोगों को इससे भी बड़ी बुराइयों से बचाने के लिए आवश्यक तो माना जाता था, और इसी आधार पर उचित भी कहा जाता था, परन्तु इसे पतन की अवस्था ही माना जाता था, जिससे वास्तविक पवित्रता के इच्छुकों को बचना ही चाहिए। सेन्ट जेरोम के शक्तिशाली शब्दों में सन्त का एकमात्र ध्येय यह था कि "विवाह की लकड़ी को ब्रह्मचर्य के कुल्हाड़े से काट दो।" यदि उन्होंने कभी विवाह की प्रशंसा करना स्वीकार किया भी तो केवल इस कारण कि विवाह के फलस्वरूप कुमारिकाएं जन्म लेती हैं। विवाह-सम्बन्ध हो जाने के बाद भी संयम की भावना पूर्ववत उत्कट रहती थी। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि इसके कारण घरेलू जीवन के अन्य सम्बन्धों में किस प्रकार कटुता आ जाती थी। इस भावना के कारण विवाह के पवित्रतम बन्धन में दस गुनी कटुता आ जाती थी। पति या पत्नी के मन में धर्म का आवेश आते ही पहला परिणाम यह होता था कि सुखी सम्बन्ध असम्भव हो जाता था। दोनों में से जिस में भी धर्म की भावना अधिक उत्कट होती थी, उसकी तत्काल यह इच्छा होती थी कि एकान्तवास करूं और तपस्या करने लगूं। और यदि सम्बन्ध विच्छेद नहीं हो सकता था तो विवाहितावस्था में ही अलगाव का अस्वाभाविक जीवन प्रारम्भ हो जाता था। धर्मगुरुओं के प्रबोधन-साहित्य और सन्त-गाथाओं में इस विचार सम्प्रदाय का महत्वपूर्ण स्थान है, जैसा कि साहित्य की इस शाखा के ज्ञाता जानते ही हैं। कुछ उदाहरण देखिए : सेन्ट नाइलस के दो बच्चे थे तो उन्हें तपस्या करने की आकांक्षा हुई। उनकी पत्नी ने बहुत रोने-धोने के बाद उनसे अलग होना स्वीकार किया। सेन्ट एम्मॉन ने सुहागरात को ही अपनी पत्नी को विवाह के कुप्रभावों पर व्याख्यान दे डाला, जिसका परिणाम यह हुआ कि उन दोनों ने अलग होना स्वीकार कर लिया। सेन्ट मेलानिया को अपने साथ शारीरिक सम्बन्ध तोड़ लेने के लिए अपने पति को राज़ी करने में भरसक प्रयत्न करना पड़ा तब कहीं जा कर वे सफल हुईं। सेन्ट अब्राहम अपनी विवाह रात्रि को ही अपनी पत्नी को छोड़ कर चले गए। कुछ समय बाद की गाथा है कि सेन्ट अलेक्सी ने भी यही किया, किन्तु कुछ समय बाद वे यरूशलम से लौटे तो अपने पिता के घर गए जहां उनकी पत्नी उनके वियोग में बैठी थी। उनकी

प्राथना पर दया करके उन्हें वहां रहने का स्थान दिया गया, जहांवे आयु पर्यन्त रहे। उनसे सभी घृणा करते थे, न उन्हें कोई जानता था और न मानता ही था।

परन्तु, केथॉलिक मत इतना अजीवशास्त्री नहीं रहा जितने कि सेन्ट पॉल और थे वेड के भिक्षु थे। सेन्ट पॉल के लेखों से तो यह लगता है कि विवाह को वासनापूर्ति का ही न्यूनाधिक उचित साधन मानना चाहिए। उनके शब्दों से तो ऐसा नहीं लगता कि उन्हें सन्तति-निरोध पर कोई आपत्ति होगी। इस के विपरीत यह आभास होगा कि वे गर्भावस्था और प्रसवकाल में निहित संयम को जोखिमपूर्ण मानते हैं। परन्तु चर्च (ईसाई धर्म) की धारणा भिन्न रही है। रूढ़वादी ईसाई मत में, विवाह के दो प्रयोजन माने गए हैं: एक, जिसे सेन्ट पॉल ने माना है और दूसरा है सन्तानोत्पत्ति। फलस्वरूप सेक्स-सम्बन्धी नैतिकता उससे कहीं अधिक कठिन बन गई है। जितनी कि सेन्ट पॉल ने बना दी थी। मैथुन न केवल विवाह में ही उचित है, बल्कि पति-पत्नी भी गर्भाधान की आशा से सम्भोग न करें तो वह भी पाप है। सच तो यह है कि केथॉलिक चर्च के अनुसार, औरस सन्तान की इच्छा से किया गया सम्भोग ही उचित कहला सकता है। परन्तु विवाह में केवल इसी प्रेरणा के कारण सम्भोग उचित बन जाता है चाहे इसमें कितनी ही क्रूरता क्यों न हो, यदि मैथुन से संतान-प्राप्ति की आशा हो, तो चाहे पत्नी को मैथुन से घृणा हो, पुनः गर्भाधान से उसके मर जाने का डर हो, रोगी या पागल सन्तान होने का भय हो या इतना धन भी न हो कि घोर दरिद्रता का निवारण हो सके, तो भी पति द्वारा अपने वैवाहिक (सम्भोग करने के) अधिकारों पर इसरार करना सदा ही उचित माना जायेगा।

इस विषय पर केथॉलिक शिक्षा के दो आधार हैं। एक ओर तो इसका आधार संयम पर है, जिस का उपदेश सेन्ट पॉल ने दिया था और दूसरी ओर इस धारणा पर कि जितने अधिक व्यक्ति, जन्म लें उतना ही अच्छा है, क्योंकि प्रत्येक मुक्ति प्राप्त कर सकता है। किसी कारण से, जिसे मैं नहीं समझ सका, इस बात को ध्यान में नहीं रखा जाता कि सभी व्यक्तियों के नरक जाने की भी उतनी ही आशा है, जितनी मुक्ति पाने की और यह बात भी पहले जितनी ही

जैसा कि लिनेयस ने प्रमाणित किया है—पुष्पों तक में है, उसे सदा आदम के पतन का परिणाम समझा जाता था। इस प्रकार विवाह को, लगभग पूर्ण रूप से, उसके निकृष्टतम पहलू में देखा जाता था। इस बात की लगभग उपेक्षा ही कर दी जाती थी कि इसके परिणामस्वरूप सुकोमल प्यार जागता है और सुन्दर तथा सात्विक घरेलू गुणों की उत्पत्ति होती है। तपस्वियों का उद्देश्य यह था कि लोगों को ब्रह्मचर्य-जीवन की ओर आकृष्ट किया जाय, फलस्वरूप विवाह को घटिया अवस्था माना जाता था। विवाह को मानव जाति को बनाए रखने और लोगों को इससे भी बड़ी बुराइयों से बचाने के लिए आवश्यक तो माना जाता था, और इसी आधार पर उचित भी कहा जाता था, परन्तु इसे पतन की अवस्था ही माना जाता था, जिससे वास्तविक पवित्रता के इच्छुकों को बचना ही चाहिए। सेन्ट जेरोम के शक्तिशाली शब्दों में सन्त का एकमात्र ध्येय यह था कि "विवाह की लकड़ी को ब्रह्मचर्य के कुल्हाड़े से काट दो।" यदि उन्होंने कभी विवाह की प्रशंसा करना स्वीकार किया भी तो केवल इस कारण कि विवाह के फलस्वरूप कुमारिकाएं जन्म लेती हैं। विवाह-सम्बन्ध हो जाने के बाद भी संयम की भावना पूर्ववत उत्कट रहती थी। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि इसके कारण घरेलू जीवन के अन्य सम्बन्धों में किस प्रकार कटुता आ जाती थी। इस भावना के कारण विवाह के पवित्रतम बन्धन में दस गुनी कटुता आ जाती थी। पति या पत्नी के मन में धर्म का आवेश आते ही पहला परिणाम यह होता था कि सुखी सम्बन्ध असम्भव हो जाता था। दोनों में से जिस में भी धर्म की भावना अधिक उत्कट होती थी, उसकी तत्काल यह इच्छा होती थी कि एकान्तवास करूं और तपस्या करने लगूं। और यदि सम्बन्ध विच्छेद नहीं हो सकता था तो विवाहितावस्था में ही अलगाव का अस्वाभाविक जीवन प्रारम्भ हो जाता था। धर्मगुरुओं के प्रबोधन-साहित्य और सन्त-गाथाओं में इस विचार सम्प्रदाय का महत्वपूर्ण स्थान है, जैसा कि साहित्य की इस शाखा के ज्ञाता जानते ही हैं। कुछ उदाहरण देखिए : सेन्ट नाइलस के दो बच्चे थे तो उन्हें तपस्या करने की आकांक्षा हुई। उनकी पत्नी ने बहुत रोने-धोने के बाद उनसे अलग होना स्वीकार किया। सेन्ट एम्मॉन ने सुहागरात को ही अपनी पत्नी को विवाह के कुप्रभावों पर व्याख्यान दे डाला, जिसका परिणाम यह हुआ कि उन दोनों ने अलग होना स्वीकार कर लिया। सेन्ट मेलानिया को अपने साथ शारीरिक सम्बन्ध तोड़ लेने के लिए अपने पति को राज़ी करने में भरसक प्रयत्न करना पड़ा तब कहीं जा कर वे सफल हुईं। सेन्ट अब्राहम अपनी विवाह रात्रि को ही अपनी पत्नी को छोड़ कर चले गए। कुछ समय बाद की गाथा है कि सेन्ट अलेक्सी ने भी यही किया, किन्तु कुछ समय बाद वे यरूशलम से लौटे तो अपने पिता के घर गए जहां उनकी पत्नी उनके वियोग में बैठी थी। उनकी

प्रार्थना पर दया करके उन्हें वहां रहने का स्थान दिया गया, जहां वे आयु पर्यन्त रहे। उनसे सभी घृणा करते थे, न उन्हें कोई जानता था और न मानता ही था।

परन्तु, केथॉलिक मत इतना अजीवशास्त्री नहीं रहा जितने कि सेन्ट पॉल और थे वेड के भिक्षु थे। सेन्ट पॉल के लेखों से तो यह लगता है कि विवाह को वासनापूर्ति का ही न्यूनाधिक उचित साधन मानना चाहिए। उनके शब्दों से तो ऐसा नहीं लगता कि उन्हें सन्तति-निरोध पर कोई आपत्ति होगी। इस के विपरीत यह आभास होगा कि वे गर्भावस्था और प्रसवकाल में निहित संयम को जोखिमपूर्ण मानते हैं। परन्तु चर्च (ईसाई धर्म) की धारणा भिन्न रही है। रूढ़वादी ईसाई मत में, विवाह के दो प्रयोजन माने गए हैं : एक, जिसे सेन्ट पॉल ने माना है और दूसरा है सन्तानोत्पत्ति। फलस्वरूप सेक्स-सम्बन्धी नैतिकता उससे कहीं अधिक कठिन बन गई है। जितनी कि सेन्ट पॉल ने बना दी थी। मैथुन न केवल विवाह में ही उचित है, बल्कि पति-पत्नी भी गर्भाधान की आशा से सम्भोग न करें तो वह भी पाप है। सच तो यह है कि केथॉलिक चर्च के अनुसार, औरस सन्तान की इच्छा से किया गया सम्भोग ही उचित कहला सकता है। परन्तु विवाह में केवल इसी प्रेरणा के कारण सम्भोग उचित बन जाता है चाहे इसमें कितनी ही क्रूरता क्यों न हो, यदि मैथुन से संतान-प्राप्ति की आशा हो, तो चाहे पत्नी को मैथुन से घृणा हो, पुनः गर्भाधान से उसके मर जाने का डर हो, रोगी या पागल सन्तान होने का भय हो या इतना धन भी न हो कि घोर दरिद्रता का निवारण हो सके, तो भी पति द्वारा अपने वैवाहिक (सम्भोग करने के) अधिकारों पर इसरार करना सदा ही उचित माना जायेगा।

इस विषय पर केथॉलिक शिक्षा के दो आधार हैं। एक ओर तो इसका आधार संयम पर है, जिस का उपदेश सेन्ट पॉल ने दिया था और दूसरी ओर इस धारणा पर कि जितने अधिक व्यक्ति, जन्म लें उतना ही अच्छा है, क्योंकि प्रत्येक मुक्ति प्राप्त कर सकता है। किसी कारण से, जिसे मैं नहीं समझ सका, इस बात को ध्यान में नहीं रखा जाता कि सभी व्यक्तियों के नरक जाने की भी उतनी ही आशा है, जितनी मुक्ति पाने की और यह बात भी पहले जितनी ही

संगत है। उदाहरण के लिए, केथॉलिक मत के अनुयायी प्रोटेस्टटेंट लोगों को सन्तति निरोध के उपाय करने से रोकने के लिए अपने राजनीतिक प्रभाव का प्रयोग करते हैं और उनका यह विचार भी रहता है कि उन के राजनीतिक कार्य के कारण जो प्रोटेस्टेंट बच्चे जीवित हैं, उन में से अधिकतर मरने के बाद नरक में जायेंगे। इस दृष्टि से उन का कार्य निर्मम अवश्य जान पड़ता है परन्तु निस्सन्देह यह ऐसा रहस्य है जिसे सांसारिक लोग समझ पाने की आशा नहीं कर सकते।

केथॉलिक मत में विवाह के एक प्रयोजन में सन्तान की मान्यता आंशिक है। वे लोग यह निष्कर्ष निकाल कर ही चुप हो जाते हैं कि जिस मैथुन का प्रयोजन सन्तानोत्पत्ति नहीं है वह पाप है। वे उस अवस्था तक नहीं पहुँच पाए कि बांझपन के कारण विवाह-विच्छेद की अनुमति दे सकें। कोई पुरुष सन्तान का कितना ही इच्छुक क्यों न हो, यदि उस की पत्नी बांझ है, तो उसके लिए ईसाई नैतिकता में कोई भी उपचार नहीं है। सच तो यह है कि विवाह के प्रत्यक्ष प्रयोजन –प्रजनन– का महत्व अत्यन्त गौण है और उसका मुख्य प्रयोजन पाप को रोकना ही है जैसा कि सेन्ट पॉल ने कहा है। अनूढ़ागमन का महत्व इस क्षेत्र में भी है और यहां भी विवाह को उसका विकल्प माना जाता है लेकिन उसे खेदजनक विकल्प ही समझा जाता है।

केथॉलिक मत ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि विवाह एक पवित्र संस्कार है और इस प्रकार उपर्युक्त निकृष्ट धारणा पर पर्दा डाला जाता है। इस सिद्धान्त की व्यावहारिक प्रभावशीलता इस निष्कर्ष में है कि विवाह अविच्छेद्य है। पति-पत्नी जो चाहें करें। उन में से कोई एक पागल हो जाये या उपदंश का रोगी हो जाये, नियमित रूप से मद्यपान करने लगे या खुले आम किसी और के साथ रहने लगे—उनका परस्पर सम्बन्ध सदा अटूट रहता है। कुछ विशेष परिस्थितियों में उन्हें अलग रहने की अनुमति चाहे मिल जाये, पर पुनर्विवाह का अधिकार नहीं दिया जाता। इसमें सन्देह नहीं कि इस कारण बहुत से मामलों में बड़ा क्लेश होता है लेकिन चूंकि इस क्लेश को दैवी इच्छा माना जाता है, इसलिए इसे सहन करना ही चाहिए।

केथॉलिक मत में ऐसी कठोरता के साथ-साथ उस बात के प्रति सहिष्णुता की भावना भी रही है जिसे उसमें पाप माना जाता है। चर्च ने यह माना है कि सहज स्वभाव के कारण मानवों से धर्माज्ञाओं के अनुसार चलने की आशा नहीं की जा सकती और इसलिए वह अनूढ़ागमन करने वालों को—यदि वे अपना पाप स्वीकार कर के उस के लिए प्रायश्चित करें—पापमुक्त करने के लिए तैयार रहा है। यह व्यावहारिक सहिष्णुता पादरियों की शक्ति बढ़ाने का उपाय मात्र था, क्योंकि पापमोचन वही कर सकते थे और अमूढ़ागमन के पाप का मोचन न हो तो उसका दण्ड अनन्त नरक ही है।

प्रोटेस्टेंट मत का दृष्टिकोण कुछ भिन्न रहा है। सिद्धान्त रूप में यह दृष्टि-कोण कम कठोर था, परन्तु व्यवहार में काफी कठोर था। लूथर पर इस कथन का बड़ा प्रभाव पड़ा था कि "जलने की अपेक्षा विवाह कर लेना अच्छा है," वह एक भिक्षुणी से प्रेम भी करता था। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि ब्रह्मचर्य-व्रत लिये रहने पर भी उसे और भिक्षुणी को परस्पर विवाह का अधिकार है क्योंकि उसकी वासना इतनी प्रबल है कि यदि उस ने विवाह न किया तो वह घातक पाप की ओर झुक जायगा। प्रोटेस्टेंट मत ने इसी कारण ब्रह्मचर्य की प्रशंसा का, जो कि केथोलिक मत की विशेषता थी, परित्याग किया। जहाँ भी प्रोटेस्टेंट मत का जोर था, वहीं इस बात को भी छोड़ दिया गया कि विवाह पवित्र संस्कार है। और कुछ दशाओं में तलाक की भी स्वीकृति दी गई। परन्तु केथोलिक लोगों की अपेक्षा प्रोटेस्टेंट अनूढ़ागमन को अधिक बुरा मानते थे और नैतिक आधार पर इसकी निन्दा अधिक कठोरता से करते थे। केथॉलिक मत में थोड़े-बहुत पाप की आशा की जाती थी और उससे निबटने के उपाय किए जाते थे। परन्तु इसके विपरीत प्रोटेस्टेंट लोगों ने पाप-स्वीकरण और पाप-मोचन के केथॉलिक-व्यवहारों को छोड़ दिया और इस प्रकार उनमें पापी की स्थिति केथॉलिक मत के पापी की तुलना में अधिक निराशाजनक होती थी। आधुनिक अमेरिका में इस अभिवृत्ति के दोनों पहलू देखने को मिलते हैं। वहाँ तलाक़ तो बिल्कुल आसान है, किन्तु परस्त्रीगमन की निन्दा जितनी कठोरता से की जाती है, उतनी अधिकांश केथॉलिक देशों में नहीं की जाती है।

यह स्पष्ट है कि ईसाई-शिक्षा से उत्पन्न पूर्व-धारणाओं को यथासम्भव छोड़ कर, केथॉलिक और प्रोटेस्टेंट दोनों रूपों में ईसाई नैतिकता की सारी प्रणाली की फिर परीक्षा करना आवश्यक है। किसी को, विशेषकर बाल्यावस्था में, कोई बात बार-बार बलपूर्वक बताई जाय तो अधिकतर दशाओं में उस पर इतना दृढ़ विश्वास हो जाता है कि उसका अर्धचेतन मन पर भी पूरा अधिकार हो जाता है। हम लोगों में से अधिकतर लोगों के अर्धचेतन मन, जो रूढ़िवादिता के सम्बन्ध में अपने विचारों को बिल्कुल विमुक्त समझते हैं, वास्तव में इसी शिक्षा के अधीन हैं। हमें अपने आप से यह स्पष्ट पूछना चाहिए कि चर्च ने अनूढ़ागमन की निन्दा क्यों की? क्या हमारे विचार में, उनके पास अनूढ़ागमन की निन्दा के युक्ति-युक्त आधार थे? यदि नहीं, तो क्या चर्च द्वारा प्रस्तुत आधारों के अतिरिक्त कुछ और आधार हैं जिन से हम उसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे? प्रारम्भ में चर्च (धर्म गुरुओं) की अभिवृत्ति यह थी कि मैथुन में मूलतः कुछ अपवित्रता है, लेकिन यदि कुछ प्रारम्भिक शर्तों को पूरा करने के बाद मैथुन किया जाये तो इसे क्षम्य माना जाना चाहिए। इस अभिवृत्ति को विशुद्ध अंधविश्वास पर आधारित मानना चाहिए क्योंकि इसको अपनाने के कारण सम्भवतः वही थे, जिन पर हम पिछले अध्याय में विचार कर चुके हैं, और जिनसे सेक्स-विरोधी अभिवृत्ति के उत्पन्न होने का भय था। अर्थात् प्रारम्भ में जिन लोगों ने इस विचार को प्रचलित किया, उनकी मानसिक या शारीरिक या दोनों दशाएं रोग-युक्त रही होंगी। किसी विचार का अत्यधिक प्रचलन ही इस बात का प्रमाण नहीं कि वह सर्वथा बेतुका नहीं था। बल्कि सच तो यह है मानवता में बहुमत मूर्खों का है और इस-लिए अधिक प्रचलित विचार के मूर्खतापूर्ण होने की आशा अधिक होती है और बुद्धि-मत्तापूर्ण होने की कम। पील्यु द्वीप के निवासियों का विश्वास है कि अनन्त आनन्द की प्राप्ति के लिए नाक छिदवाना आवश्यक है, योरोपियनों का विचार है कि कुछ शब्दों का उच्चारण करके सिर को गीला कर लेने से इस साध्य की पूर्ति अधिक सुचारु रूप से हो सकती है (—तात्पर्य बपतिस्मा के समय सिर जल छिड़कने से है—सं०) पील्यु द्वीप के निवासियों का विश्वास तो अंधविश्वास माना जाता है, लेकिन योरोपियनों का विश्वास हमारे पवित्र धर्म का एक सत्य

माना जाता है ।[1]

जेरेमी बेन्थम ने कार्य के स्रोतों की एक सारिणी बनाई थी जिसमें तीन समानान्तर स्तम्भों में प्रत्येक मानवीय इच्छा का नाम लिखा है । इनका क्रम इस आधार पर रखा गया था कि लोग इनकी प्रशंसा करते हैं, निन्दा करते हैं या तटस्थ भावना से इन्हें देखते हैं । एक स्तम्भ में लिखा है "पेटूपन" और उसके सामने अगले स्तम्भ में लिखा है " भोजन के आनन्द का अनुराग ।" मनोवेगों के प्रशंसात्मक नामों के स्तम्भ में देखिए तो "लोकहित" के आगे अगले स्तम्भ में 'दुर्भावना" शब्द लिखा है । आप किसी नैतिक विषय पर स्पष्टता से कुछ सोचना चाहते हों तो मैं आप को राय दूंगा कि बेन्थम का अनुसरण करें और जब आप के मस्तिष्क में यह बात बैठ जाये कि निन्दा के अर्थ वाले प्रत्येक शब्द का एक समानार्थी शब्द ऐसा भी होता है जिसका अभिप्राय प्रशंसा होता है, तब आप उन शब्दों के प्रयोग की आदत डालें जिनसे न प्रशंसा प्रकट होती है और न निन्दा । "परस्त्रीगमन" और "अनूढ़ागमन" दोनों शब्द ऐसे हैं जिनसे घोर नैतिक भर्त्सना प्रकट होती है । और यही कारण है कि जब तक इन का प्रयोग होता रहेगा तब तक स्पष्ट रूप से सोचना कठिन है । परन्तु कुछ ऐसे शब्द हैं जिनका प्रयोग वे कामुक लेखक करते हैं जिनका उद्देश्य हमारे आचार को भ्रष्ट करना है । ऐसे लेखक "स्त्रियों के प्रति सेवाभाव" या "विधि के कड़े बन्धनों से मुक्त प्रेम" की बात करते हैं । दोनों शब्द-समूहों का उद्देश्य पूर्वाग्रह को जन्म देना है । यदि हम चाहते हैं कि ठंडे दिल से विचार करें तो हमें इन दोनों शब्द-समूहों से दूर रहना चाहिए । दुर्भाग्यवश, इस का परिणाम यह होगा कि हमारी साहित्यिक शैली खराब हो जायेगी । प्रशंसा और निन्दा के शब्द बड़े आकर्षक और रोचक होते हैं । पाठक लांछन या प्रशंसा की बौछार से प्रभावित हो जाता है और लेखक, थोड़ी सी चतुरता से ही, उसके भावों को जिधर चाहे मोड़ सकता है । हम चाहते हैं कि तर्कपूर्ण बात कहें, और इसलिए हमें "विवाहेतर सेक्स-सम्बन्ध" जैसे अनाकर्षक तटस्थ वाक्यांशों का प्रयोग करना पड़ेगा । परन्तु यह सम्भवतः बहुत कठोर उपदेश होगा क्योंकि आखिर हम ऐसे विषय की बात

१. वेस्टरमार्क की पूर्वोल्लिखित पुस्तक, पृष्ठ १७० ।

कर रहे हैं, जिसका मानवीय भावनाओं से गहरा सम्बन्ध है। यदि हम अपने लेखन से भावनाओं का पूर्णतया बहिष्कार करदें तो सम्भवतः इस विषय की प्रकृति का ज्ञान ही न करा सकें। सभी सेक्स-सम्बन्धी मामलों में प्रतिकूलता रहती है। वह इस पर निर्भर है कि उनका वर्णन, उसमें भाग लेने वाले करते हैं या बाहर के ईर्ष्यालु व्यक्ति। जो हम करते है उसे "स्त्रियों के प्रति सेवाभाव" कहते हैं और जो दूसरे करते हैं, उसे "अनूढ़ागमन" कहते हैं। इसलिए हमें भावनारंजित शब्दों का ध्यान रखना चाहिए। किसी विशेष अवसर पर उनका प्रयोग भले ही कर लें, परन्तु यह यदा-कदा ही होना चाहिए। मुख्यतया हमें तटस्थ और वैज्ञानिक दृष्टि से बिल्कुल ठीक शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए।

ईसाई नैतिकता ने यौन सदाचार पर बल दे कर अनिवार्य रूप से स्त्रियों की स्थिति निकृष्ट बनाने में बहुत कुछ योगदान दिया है। नैतिकता का उपदेश देने वाले चूँकि पुरुष थे, इसलिए स्त्रियों को मायाविनी माना गया। नैतिकता की व्यवस्था यदि स्त्रियों के हाथ में होती तो पुरुष मायावी कहलाते। चूँकि स्त्रियाँ मायाविनी थीं, इसलिए यह वांछनीय माना गया कि उन्हें पुरुषों को अपने मोहजाल में फंसाने के कम अवसर दिये जायें। परिणाम यह हुआ कि सम्भ्रान्त महिलाओं पर बंधन लगा दिए गए और जो स्त्रियाँ सम्भ्रान्त नहीं थीं उन्हें पापिनी माना जाता था और उनसे बड़ा निरादरपूर्ण बर्ताव किया जाता था। अभी आधुनिक काल ही में स्त्रियों को उतनी स्वतन्त्रता मिल पाई है, जितनी उन्हें रोम-साम्राज्य में मिली हुई थी। जैसा कि हम देख चुके है स्त्रियों को गुलाम बनाने में पितृसत्तात्मक प्रणाली का बड़ा हाथ रहा है परन्तु इसका बहुत-कुछ प्रभाव ईसाई धर्म के उदय से कुछ पहले हट गया था। सम्राट् कॉन्सटेन्टाइन के बाद स्त्रियों को पाप से बचाने के बहाने उनकी स्वतन्त्रता फिर कम कर दी गई। आधुनिक युग में पाप की धारणा के ह्रास के साथ ही स्त्रियों को उनकी स्वतन्त्रता फिर मिलने लगी है।

ईसाई पादरियों की रचनायें स्त्रियों के विरुद्ध कटूक्तियों से भरी पड़ी हैं।

> स्त्री को नरक का द्वार और सभी मानवीय दुःखों का स्रोत माना जाता था। यह समझा जाता था कि उसे इस बात पर ही लज्जा आनी चाहिए कि वह स्त्री है। उसे

सदा प्रायश्चित करना चाहिए क्योंकि उसी के कारण संसार पर इतने अभिशाप आए हैं। उसे अपनी वेशभूषा पर लज्जा आनी चाहिए क्योंकि यह उसके पतन की द्योतक है। उसे विशेषकर अपने सौन्दर्य पर लज्जा आनी चाहिए क्योंकि शैतान का सबसे प्रबल हथियार यही है। धर्मगुरुओं की निन्दा का स्थायी विषय शारीरिक सौन्दर्य रहा है। हां एक, और केवल एक, अपवाद किया गया। यह देखा गया है कि मध्य युग में बिशपों की निजी सुन्दरता उनकी कब्रों पर अंकित होती थी। छठी शताब्दी में एक प्रान्तीय परिषद् ने स्त्रियों को उनकी अपवित्रता के कारण अपने नंगे हाथों में प्रसाद ग्रहण करने का निषेध किया था। उनकी मूलरूप से अधीन स्थिति बराबर बनाए रखी जाती थी।[1]

इसी अर्थ में सम्पत्ति और आनुवंशिकता की विधियों में ऐसा परिवर्तन किया गया जो स्त्रियों के हित के विरुद्ध था। पुत्रियों को दायभाग का अधिकार फिर मिल गया तो इसका श्रेय फ्रांसीसी क्रान्ति के स्वतन्त्र विचारकों को ही है।

---

१. डब्ल्यू० ई० एच० लेकी, हिस्ट्री ऑफ योरोपियन मॉरेल्स, खण्ड २, पृष्ठ ३५७-५८।

रोमेंटिक प्रेम

ईसाई धर्म और बर्बर जातियों की विजय के बाद स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध नृशंसता के गर्त्त तक जा पहुँचे, जिसका प्राचीन विश्व में कई शताब्दियों तक नाम-निशान भी नहीं मिलता। प्राचीन संसार क्रूर अवश्य था परन्तु नृशंस नहीं। तमो-युग में, धर्म और बर्बरता ने मिलकर जीवन के सेक्स-सम्बन्धी पहलू को पतित बना दिया। विवाह के बाद स्त्री को कोई अधिकार नहीं मिलते थे, और पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्ध के अतिरिक्त और किसी से सम्बन्ध पाप था, इसलिए असभ्य पुरुष की नैसर्गिक पशुता पर बन्धन लगाने का कोई प्रयोजन ही न था। मध्य युग में अनैतिकता बड़ी फैली हुई थी और जुगुप्सापूर्ण थी। बिशप खुले आम अपनी पुत्रियों के साथ पाप में लीन रहते थे और आर्कबिशप अपने अनुग्रह-प्राप्त पुरुषों को आस-पास के क्षेत्रों में बिशप नियुक्त कर देते थे।[1] इस बात में विश्वास बढ़ रहा था कि पादरियों को ब्रह्मचारी रहना चाहिए, लेकिन व्यवहार उपदेश से भिन्न था। पोप ग्रेगरी सप्तम ने इस बात के भरसक प्रयत्न किये कि पादरी लोग रखैलें न रखें, परन्तु एबेलार्ड के समय तक हम यह देखते हैं कि पोप हेल्योस से विवाह सम्भव मानता था; क्योंकि उन्होंने ही यह विवाह सम्पन्न कराया, यह बात अलग है कि वह उसे बदनामी की बात भी समझता था। तेरहवीं शताब्दी के अन्त में जा कर कहीं पादरियों के लिए ब्रह्मचर्य व्रत के पालन को कठोरता पूर्वक लागू किया गया। परन्तु, पादरियों के स्त्रियों के साथ अनुचित सम्बन्ध पहले की तरह जारी रहे, यद्यपि वे इन सम्बन्धों को सम्मानित या मनोरम स्वरूप

१. देखिए, ली की पुस्तक, हिस्ट्री ऑफ़ द इन्क्विज़ीशन इन द मिडिल एजेज़, खण्ड १, पृष्ठ ६-१४।

नहीं दे सकते थे, क्योंकि वे भी वास्तव में इन सम्बन्धों को अनैतिक और अपवित्र मानते थे। सेक्स के सम्बन्ध में चर्च का दृष्टिकोण संयमपूर्ण था इसलिए वे प्रेम की संकल्पना को सुन्दर बनाने के लिए कुछ भी नहीं कर सके। यह काम जन-साधारण को ही करना पड़ा।

जब पादरियों ने अपना व्रत तोड़ कर ऐसा जीवन बिताना प्रारम्भ कर दिया जिसे वे स्वयं पापमय समझते थे, तो वे जनसाधारण की तुलना में अधिक निकृष्ट हो गए; और इसमें आश्चर्य की भी कोई बात नहीं है। व्यभिचार के कई इक्का-दुक्का उदाहरण मिलते हैं : जैसे कि पोप जॉन २३ वें, जिसे अगम्यागमन और परस्त्रीगमन के अतिरिक्त और कई अपराधों के लिए दण्डित किया गया; कैन्टरबरी में सेन्ट आगस्टीन मठ के मनोनीत एबट के बारे में ११७१ में जांच की गई तो पता चला कि एक गांव ही में उसके १७ जारज बच्चे थे; स्पेन के सेन्ट पेलायो मठ के एबट के बारे में ११३० में यह प्रमाणित हो गया कि उसके ७० रखैलें थीं; लीज के बिशप हेनरी तृतीय को १२७४ में ६५ जारज बच्चों का पिता होने के अपराध में पदच्युत किया गया। हम चाहे इन उदाहरणों पर अधिक बल न दें, लेकिन धर्म-परिषदों और धार्मिक विषयों के लेखकों को ने ऐसे वर्णन किए हैं, जिनसे पता चलता है कि रखैल रखने से कहीं अधिक बड़ी बुराइयां विद्यमान थीं। यह देखने में आया कि जब पादरी विवाह कर भी लेते थे, तो इस कारण कि उन्हें मालूम था कि उनके ये सम्बन्ध अवैध हैं, उनमें पत्नीव्रत का अभाव पाया जाता था। उन में दो-दो पत्नियां रखना और किसी एक स्त्री के साथ अधिक देर तक सम्बन्ध न रखना तो साधारण सी बात थी। मध्ययुग के लेखकों की पुस्तकों में भिक्षुणियों के ऐसे मठों का उल्लेख है जो वेश्यालयों की भांति थे; जहां शिशु हत्या अत्यधिक संख्या में होती थी। पादरियों में अगम्यागमन इतना रूढ़ हो चुका था कि बार-बार कठोर विधियां बनानी पड़ीं जिनके द्वारा यह आज्ञा दी गई कि पादरियों को अपनी मां या बहन के साथ न रहने दिया जाय। अप्राकृतिक प्रेम, जिसका ईसाई धर्म ने लगभग उन्मूलन करके संसार की बड़ी सेवा की थी, मठों में उस समय तक था! सोलहवीं शताब्दी में धर्म-सुधार आन्दोलन (रिफ़ॉर्मेशन) के कुछ समय पहले यह शिकायत बहुत जोर से की जाने लगी कि गिर्जाघरों में पापस्वीकरण के कक्षों को व्यभिचार के लिए प्रयुक्त किया जाता है।[1]

समूचे मध्य युग में चर्च की यूनानी-रोम परम्पराओं और अभिजात तंत्र

---

[1] डब्ल्यू०ई० एच० लेकी, हिस्ट्री आफ़ योरोपियन मॉरेल्स, खण्ड २, पृष्ठ ३५०,३५१।

की जर्मन-जाति परम्पराओं में अद्भुत भेद रहा है। इन दोनों ने ही सभ्यता के विकास में अपना योग दिया। परन्तु इनका योगदान एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न प्रकार का था। चर्च ने ज्ञान, दर्शन, धार्मिक नियम और ईसाइयत की एकता की संकल्पना दी—ये सभी बातें मेडीटरेनियन (प्रशान्त महासागरीय) क्षेत्र से मध्य-युग के पूर्व से चली आ रही परम्परा का परिणाम थीं। जनसाधारण ने साधारण-विधि, धर्म-निरपेक्ष सरकार के स्वरूप को काव्य और रम्याख्यान दिया। यहां हमारा सम्बन्ध जिस योगदान से है, वह है : रोमेंटिक प्रेम।

यह कहना तो ठीक नहीं होगा कि मध्य युग से पहले कोई जानता ही न था कि रोमेंटिक, श्रृंगारिक प्रेम, क्या वस्तु है, परन्तु इसे प्रेमावेश का साधारण रूप तो मध्य युग में ही स्वीकार किया गया। रोमेंटिक प्रेम का मूल तत्व यह है कि इस में प्रेम के पात्र को पाना बड़ा कठिन माना जाता है और उसे बहुमूल्य समझा जाता है। इसलिए कविता, गीत, शस्त्र-कला के प्रदर्शन या किसी भी अन्य ऐसे ढंग से, जो प्रेमिका के पसन्द हो, प्रेमिका को पाने की बड़ी चेष्टा की जाती थी। प्रेमिका के बहुमूल्य होने का विश्वास उसे प्राप्त करने की कठिनाई के मनोवैज्ञानिक प्रभाव के कारण है। मेरा विचार है कि यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जिस पुरुष को स्त्री की प्राप्ति में कोई कठिनाई नहीं होती, उस स्त्री के प्रति उसकी भावना रोमेंटिक प्रेम का रूप धारण नहीं करती। मध्य युग में रोमेंटिक प्रेम जिस रूप में दिखाई देता है वह प्रारम्भ में तो उन स्त्रियों के प्रति नहीं दिखाया जाता था जिनके साथ प्रेमी के उचित या अनुचित यौन सम्बन्ध हो सकते हों। यह अत्यन्त सम्भ्रान्त महिलाओं के प्रति दिखाया जाता था, जो नैतिकता या रूढ़ि की अभेद्य प्राचीरों के कारण अपने रोमेंटिक प्रेमियों से अलग होती थीं। धर्म ने लोगों के मन पर सेक्स की अपवित्रता का इतना गहरा विश्वास बिठा दिया था कि किसी महिला के प्रति तब तक किसी काव्यमयी भावना की अनुभूति नहीं हो सकती थी, जब तक कि उसे अलभ्य न समझा जा सके। इसलिए प्रेम में सौंदर्य तभी आ सकता था जब कि वह आध्यात्मिक ही हो। आधुनिक युग के लोगों के लिए मध्य युग के कवि-प्रेमियों की मानसिक स्थिति की कल्पना करना भी बड़ा कठिन होगा।

वे उत्कट प्रणय प्रकट करते थे परन्तु मिलन की इच्छा प्रकट नहीं करते थे और आज के युग के लोगों को यह बात इतनी अनोखी लगती है कि वे इस प्रकार के प्रेम को साहित्यक रूढ़ि ही समझेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि कभी-कभी यह प्रेम साहित्यिक रूढ़ि मात्र ही होता था और निस्सन्देह इस की साहित्यिक अभिव्यक्ति पर रूढ़ियों की छाप रहती थी। परन्तु वीटा नूवा में दांते ने बीट्रिस के लिए जो प्रेम दिखाया है, वह कोरा पारम्परिक नहीं; बल्कि इसके विपरीत मैं तो यह कहूँगा कि वह इतना उत्कट मनोभाव है कि आज के युग के अधिकतर व्यक्ति उससे परिचित ही नहीं हैं। मध्य युग के उदात्त व्यक्ति पार्थिव जीवन को बुरा समझते थे। उनके विचार में हमारी मानवीय वृत्तियां भ्रष्टाचार और मानवीय पाप से उत्पन्न हुई थी। उन्हें शरीर और उसकी वासना से घृणा थी और उन्हें सच्चा आनन्द उसी प्रेम की कल्पना में दिखाई देता था, जिसमें सेक्स का कोई संमिश्रण न हो। इस प्रकार के दृष्टिकोण के कारण प्रेम के क्षेत्र में वैसी ही अभिवृत्ति उत्पन्न हो सकती थी, जो दांते में दिखाई पड़ती है। किसी स्त्री से हार्दिक प्रेम तथा उसका सम्मान करने वाला पुरुप उसके साथ मैथुन का विचार भी नहीं कर सकता था क्योंकि उसके लिए मैथुन तो, न्यूनाधिक मात्रा में, अपवित्र था। इसलिए उसका प्रेम काव्यमय और काल्पनिक रूप धारण कर लेता था और उसमें स्वभावत: प्रतीकवाद भर जाता था। साहित्य पर इस सबका बड़ा प्रशंसनीय प्रभाव पड़ा, जैसा कि सम्राट फ्रेडरिक द्वितीय के दरबार में प्रेम-सम्बन्धी कविता के प्रादुर्भाव से लेकर नवजागृति (रिनेसैंस) आन्दोलन के युग में उसके उत्कर्ष तक उसके क्रमश: विकास से प्रकट होता है।

मध्य युग के उत्तर काल में प्रेम कैसा था, इस का सबसे अच्छा वर्णन हूज़िंगा की पुस्तक **द वेनिंग ऑफ़ द मिडल एजेज़** (१९२४) में मिलता है। उस ने लिखा है :

> "जब बारहवीं शताब्दी में प्रोवेंस के कवियों ने प्रेम की काव्य-संकल्पना में अपूर्ण कामना को मुख्य स्थान दिया, तभी सभ्यता के इतिहास में महत्वपूर्ण मोड़ आया। प्राचीन काल में भी प्रेम की वेदना का वर्णन था, परन्तु उस समय प्रेम की संकल्पना,

सुख की प्रत्याशा या करुणामय असफलता के अतिरिक्त कुछ न थी। पाइरामस और थिस्बे, सेफ़ालस और प्रोक्रिस का भावात्मक तथ्य उनकी दुःखान्त मृत्यु में और भोगे हुए सुख के हृदय विदारक अन्त में था। इसके विपरीत दरबारी कविता का प्रमुख अंग कामना मात्र थी और इसलिए उसमें प्रेम की ऐसी संकल्पना बनी जिसकी पृष्ठभूमि अप्रत्यक्ष थी। कवियों का नया आदर्श ऐसा था जिसमें शारीरिक प्रेम से सभी सम्बन्ध तोड़े बिना, सभी प्रकार की नैतिक आकांक्षाओं का समावेश हो सकता था। अब प्रेम ऐसा क्षेत्र बन गया जिसमें सभी नैतिक और सांस्कृतिक परिपूर्णता विकसित हो सकती थी। इसी प्रेम के कारण दरबारी प्रेमी पवित्र और सद्गुणी है। आध्यात्मिक तत्व का प्रभुत्व बढ़ता गया और तेरहवीं शताब्दी के अन्त में दांते और उसके मित्रों की मधुर नई शैली की परिसमाप्ति इस बात में हुई कि प्रेम पवित्रता और दैवी प्रेरणा की मनः स्थिति को जन्म देता है। अतिरेक की एक सीमा आ गयी। धीरे-धीरे इटली की कविता काम-भावना की अभिव्यक्ति के कम उदात्त स्तर पर लौटी। पेट्रार्क निश्चय नहीं कर पाता कि आध्यात्मिक प्रेम का आदर्श अधिक अच्छा है या कि प्राचीन युग का अधिक स्वाभाविक आकर्षण उत्तम है। दरबारी प्रेम की कृत्रिम प्रणाली का शीघ्र ही परित्याग कर दिया गया और नव-जागृति युग के प्लेटोवाद के कारण, जो दरबारी प्रेम की संकल्पनाओं में निहित था, कामुक-काव्य के नए रूप उत्पन्न हुए, जिनका रुझान आध्यात्मवाद की ओर था। उसके बाद वे नाजुक रूप-भेद भी पुनः नहीं जाग सके जो कि दरबारी प्रेम में थे।

परन्तु फ्रांस और बर्गन्डी में यह विकास वैसा नहीं हुआ जैसा कि इटली में हुआ था, क्योंकि फ्रांस के अभिजात तंत्र के प्रेम सम्बधी विचारों पर **रोमांट ऑफ़ द रोज़** का प्रभाव था, जिसमें शूरवीरों के प्रेम का उल्लेख था परन्तु यह नहीं कहा गया था कि यह प्रेम अतृप्त प्रेम ही रहा। सच तो यह है कि यह चर्च के उपदेशों के प्रति जुगुप्सा का प्रतीक था और विधर्मियों की तरह इस बात पर बल दिया गया था कि जीवन में प्रेम का उपयुक्त स्थान होना चाहिए।

इतिहास में ऐसे ऊपरी वर्ग का अस्तित्व अपवाद रहा है, जिसकी बौद्धिक और नैतिक धारणाएं प्रेम-कला में निहित हों और किसी भी युग में सभ्यता के आदर्श का प्रेम के आदर्श के साथ इतना अधिक संम्मिश्रण नहीं हुआ है। जिस प्रकार मध्य युग के महानुभावों ने धर्मशास्त्र को संहितावद्ध करने का प्रयत्न इसलिए किया कि सभी दार्शनिक विचार एक स्थान पर इकट्ठे कर दिये जायें, उसी प्रकार दरबारी प्रेम का सिद्धान्त कम उदात्त क्षेत्र में, उन सब बातों पर लागू होता है जिनका सम्बन्ध उदात्त जीवन से है।

रोमन द ल रोज़ ने उस प्रणाली को नष्ट नहीं किया वलिक इसके रूमानों का रूप वदल दिया औरउसकीविषय वस्तु में अधिक जान डाल दी।[१]

वह युग असाधारण रूक्षता का युग था, परन्तु रोमांट ऑफ़ द रोज़ में जिस प्रेम की पैरवी की गई है वह पादरियों के कथनानुसार भले ही सदाचारपूर्ण न हो, पर वह वड़ा परिष्कृत, शौर्यपूर्ण और भद्र है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के विचार अभिजात तंत्र के लिए ही थे; उनके लिए यह आवश्यक था कि न केवल कोई काम न हो वलिक धर्मगुरुओं के अत्याचार से भी थोड़ी वहुत मुक्ति हो। चर्च उन प्रतियोगिताओं से घृणा करते थे जिनकी प्रमुख प्रेरणा प्रेम थी; परन्तु उसमें इसे दवा सकने का सामर्थ्य नहीं था। इसी प्रकार वे शूरवीरोचित प्रेम प्रणाली का भी दमन करने में असफल रहे। आज के लोकतन्त्रवादी युग में हम यह सहज ही में भुला देते हैं कि विभिन्न युगों में संसार अभिजात तन्त्रों का कितना आभारी रहा है। यह तो निश्चित है कि यदि शौर्य की गाथाओं सम्वन्धी रम्याख्यान न होते तो नव-जागृति के आन्दोलन को प्रेम की पुनर्प्रतिष्ठा में इतनी सफलता कभी न मिलती।

नव-जागृति में धर्महीनों के प्रति जुगुप्सा के कारण प्रेम यद्यपि काव्यमय रहा, परन्तु यह साधारणतया आध्यात्मिक नहीं रह पाया। मध्य युगीन प्रथा के संवंध में नव जागृति आन्दोलन के क्या विचार थे, यह तो डॉन क्विक्सोट और उसकी डल्सीनिया के विवरण से पता चलता है। फिर भी यह नहीं हुआ कि मध्य युग की परम्परा का प्रभाव समाप्त ही हो गया हो। सिडिनी की एस्ट्रो-केल एण्ड स्टैला में यह परम्परा भरी पड़ी है। और शेक्सपियर ने मिस्टर डब्ल्यू० एच० को जो सॉनेट सम्वोधित किए हैं, उन पर भी इस परम्परा का काफी प्रभाव दिखाई देता है। परन्तु सब वातों को देखते हुए, नव जागृति के युग का प्रेम-काव्य उल्लासमय और सीधा-सादा है। साम्राज्ञी एलिजावेथ के काल के एक कवि ने कहा है :

डू नाट मॉक मी इन दाई वेड
व्हाइल दीज़ कोल्ड नाइट्स फ्रीज़ मी डेड।

---

१. हूज़िंगा, दी वेनिंग आफ़ द मिडल एजिज, पृष्ट ९५-९६

(शरद ऋतु की ठण्डी रातें मेरे लहू को जमाए दे रही हैं,
तुम अपनी शैया पर लेटी मेरा उपहास न करो)।

यह मानना पड़ेगा कि यह मनोभाव सीधा-सादा है और इस पर किसी अन्तर्बाधा का प्रभाव नहीं, और न इसे आध्यात्मिक ही कहा जा सकता है। परन्तु नवजागृति आंदोलन ने, मध्य युगीन आध्यात्मिक प्रेम से यह सीखा था कि काव्य को प्रेमोपसेवन का साधन बनाया जाय। सिम्बेलीन के पात्र क्लोटन को उपहास का पात्र माना जाता है क्योंकि वह अपनी प्रेमिका को रिझाने के लिए स्वयं प्रेम कविता नहीं लिख सकता और वह किसी दूसरे को धन देकर कविता लिखवाता है—हार्क, हार्क, द लार्क (सुनो, सुनो कोकिल)। यह कहना पड़ेगा कि कविता की दृष्टि से यह प्रशंसनीय प्रयत्न था। यह अद्भुत बात है कि मध्य युग से पहले यद्यपि प्रेम से सम्बन्धित काव्य काफ़ी मात्रा में था, परन्तु ऐसा काव्य बहुत कम था जो प्रत्यक्ष रूप से प्रेमोपसेवन का अंग हो। चीन के काव्य में ऐसी स्त्री के शोक की अभिव्यक्ति की गई है, जो अपने पति के वियोग में शोकातुर है। भारतीय रहस्यवादी काव्य भी है जिसमें आत्मा को दुल्हन माना गया है, जो अपने दूल्हा ईश्वर की प्रतीक्षा में है। परन्तु ऐसा लगता है कि पुरुषों को अपनी पसन्द की स्त्रियां प्राप्त करने में इतनी कम कठिनाई होती थी कि उन्हें संगीत या काव्य के साधन से उन्हें रिझाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। कलाओं के दृष्टिकोण से वह स्थिति अवश्य ही शोचनीय होती है जबकि स्त्रियां आसानी से उपलब्ध हों। सबसे अधिक वांछनीय बात तो यह है कि उन्हें प्राप्त करना कठिन हो, परन्तु असम्भव न हो। नव-जागृति के बाद से यह स्थिति न्यूनाधिक मात्रा में रही है। कुछ कठिनाइयां आन्तरिक थी और कुछ बाहरी। आन्तरिक कठिनाइयों का उद्गम प्रथागत नैतिकता के उपदेशों से उत्पन्न संकोच ही था।

रोमेंटिक आंदोलन में रोमेंटिक प्रेम अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया जिसका मुख्य प्रतिनिधि शैले को माना जा सकता है। जब शैले प्रेम-रत होता था तो उसके मन में उत्कट मनोभाव भर जाते थे और उसकी कल्पना में ऐसे विचारों का उदय होता था, जिनकी अभिव्यक्ति काव्य में होती थी। स्वाभाविक ही है कि वह सोचता था कि जिस मनोभाव के ये परिणाम हों, वह अच्छा ही होगा,

और उसके विचार में प्रेम पर प्रतिबन्ध लगाने का कोई कारण नहीं था। परन्तु उसका तर्क ग़लत मनोवृत्ति पर आधारित था। वह अपनी कामनाओं की पूर्ति में पड़ी बाधाओं से प्रेरित होकर काव्य-रचना करता था। यदि कुलीन, परन्तु अभागी महिला एमिलिया विविआनी को कॉन्वेंट में न ले जाया गया होता, तो शैले को एपिप्सीशिडिओन लिखने की आवश्यकता न पड़ती। यदि जेन विलियम्स साध्वी पत्नी न होती तो शैलेने द रिकलेक्शन नामक रचना कभी न लिखी होती। जिन सामाजिक प्राचीरों का उसने कड़ा विरोध किया, वही उसके सबसे अच्छे कृत्यों के उद्दीपन का आवश्यक अंग थीं। शैले में जो रोमेंटिक प्रेम देखने को मिलता है, वह अस्थिर सन्तुलन की स्थिति पर निर्भर है, जहां प्रथागत दीवारें खड़ी हैं, परन्तु वे ऐसी नहीं कि उन्हें लांघा न जा सके। यदि ये प्राचीरें ऐसी न हों या उनका अस्तित्व ही न हो तो रोमेंटिक प्रेम के पल्लवित होने की आशा नहीं की जा सकती। इसकी एक चरम सीमा चीन की प्रणाली में देखने को मिलती है: इस प्रणाली में पुरुष अपनी पत्नी के अतिरिक्त और किसी सम्भ्रान्त स्त्री से नहीं मिल पाता, और जब पत्नी से उसकी तृप्ति नहीं होती तो वेश्यालय में जाता है। पत्नी उस के लिए चुन दी जाती है और उसे वह विवाह के दिन तक देख नहीं पाता। इसका परिणाम यह होता है कि उस के सारे सेक्स-सम्बन्ध रोमेंटिक अर्थ में प्रेम से बिल्कुल अलग रहते हैं। उसे अपनी प्रेमिका को रिझाने के प्रयत्न करने के ऐसे अवसर ही नहीं मिलते, जिनके कारण प्रेम-काव्य का जन्म होता है। इसके विपरीत, सम्पूर्ण स्वतन्त्रता की स्थिति में, महान् प्रेम-काव्य की रचना कर सकने वाले पुरुष के अपने निजी आकर्षण के कारण, इतना सफल होने की सम्भावना रहती है, कि उसे किसी स्त्री को जीतने के लिए अपनी कल्पना का पूर्णरूपेण प्रयोग करने की आवश्यकता शायद ही कभी पड़े। इस प्रकार प्रेम-काव्य प्रथा और स्वतन्त्रता के बीच सूक्ष्म सन्तुलन पर निर्भर है, और जहां यह सन्तुलन तनिक भी बिगड़ जाये, वहां इसके समुन्नत रूप में होने की सम्भावना नहीं है।

परन्तु प्रेम का एकमात्र प्रयोजन प्रेम-काव्य ही नहीं है। रोमेंटिक प्रेम वहां भी हो सकता है जहां इसकी प्रेरणा कलात्मक अभिव्यक्ति में परिणत न हो। मेरा अपना विश्वास है कि रोमेंटिक प्रेम जीवन के सर्वोत्तम उल्लास का स्रोत है। स्त्री

पुरुष एक दूसरे को प्रेम करते हों और उस प्रेम में उत्कटता, कल्पना और कोमलता हो, तो उस का अमूल्य महत्त्व है। और इस प्रकार के प्रेम से वंचित रहना किसी भी मानव के लिए बड़े दुर्भाग्य की बात होती है। मैं समझता हूँ कि सामाजिक प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिसमें इस आनन्द के उपयोग की अनुमति हो, यद्यपि यह आनन्द जीवन का एक अंग ही हो सकता है, जीवन का मुख्य प्रयोजन नहीं।

आधुनिक युग में फ्रांसीसी क्रांति के समय से यह विचार विकसित हुआ है कि विवाह रोमेंटिक प्रेम का ही परिणाम होना चाहिए। आधुनिक युग के अधिकतर व्यक्ति, कम से कम अंग्रेज़ी भाषा-भाषी देशों में, ऐसे विचार को साधारण बात समझते हैं लेकिन उस समय को बीते अभी अधिक देर नहीं हुई जब इसे क्रांतिकारी और नया विचार समझा जाता था। एक सौ वर्ष पहले के उपन्यासों और नाटकों में मुख्यतया युवा पीढ़ी के उस संघर्ष का चित्रण होता था, जो उन्होंने माता-पिता द्वारा दूल्हा-दुल्हन के चुनाव पर आधारित पारम्परिक विवाह-प्रथा के स्थान पर इस नये आधार की स्थापना के लिए किया। इस बात में सन्देह हो सकता है कि इस के प्रवर्तकों को जिन परिणामों की आशा थी, वैसे ही अच्छे परिणाम हुए हैं या नहीं। मिसेज़ मेलाप्रॉप के इस सिद्धान्त के पक्ष में भी कुछ न कुछ अवश्य कहा जा सकता है कि विवाह के बाद प्रेम और अरुचि दोनों का प्रभाव कम हो जाता है और इसलिए अच्छा यही है कि प्रारम्भ में थोड़ी-सी अरुचि रहे। यह तो निश्चित है कि जब दो व्यक्ति एक दूसरे के सम्बन्ध में सेक्स-ज्ञान प्राप्त किए बिना और रोमेंटिक प्रेम के प्रभाव में आकर विवाह करते हैं तो दोनों एक दूसरे में उस सम्पूर्णता की आशा करते हैं जो मानवों में सम्भव नहीं, और वे यही संकल्पना करते हैं कि विवाह आनन्द का एक अनन्त स्वप्न है। यह बात उस स्त्री पर विशेष रूप से लागू होती है जिसका पालन-पोषण इस ढंग से हुआ हो कि वह अज्ञानी और पवित्र रही हो और इस कारण सेक्स की क्षुधा और साहचर्य में भेद न कर सकती हो। अमेरिका में अन्य देशों की अपेक्षा विवाह के सम्बन्ध में रोमेंटिक दृष्टिकोण अधिक गम्भीरता से अपनाया गया है और वहां विधि और रिवाज समान रूप से चिरकुमारियों के सपनों पर आधारित हैं। परिणाम यह

हुआ है कि वहां तलाक़ का प्रचलन अत्यधिक है और सुखमय विवाहितों की संख्या बहुत कम है। विवाह दो व्यक्तियों के साहचर्य-सुख से कहीं अधिक गम्भीर है। यह ऐसी प्रथा है जो समाज के ताने-बाने का संश्लिष्ट सूत्र है, क्योंकि इसी के परिणामस्वरूप सन्तान उत्पन्न होती है, और इसका महत्व पति-पत्नी की व्यक्तिगत भावनाओं से कहीं अधिक व्यापक है। सम्भव है कि यह अच्छा हो—मेरे विचार में अच्छा ही है—कि रोमैंटिक प्रेम को ही विवाह की प्रेरणा होना चाहिए, परन्तु यह समझ लेना चाहिए कि जिस प्रकार के प्रेम से विवाह सुखी रह सकता है, और अपने सामाजिक प्रयोजनों को पूरा कर सकता है वह प्रेम रोमैंटिक नहीं होता बल्कि कहीं अधिक हार्दिक, स्नेहपूर्ण और यथार्थवादी होता है। रोमैंटिक प्रेम में प्रेम-पात्र सच्चे रूप में दिखाई नहीं पड़ता बल्कि सौन्दर्य के कुहासे में से दीखता है। इसमें सन्देह नहीं कि एक विशेष प्रकार की स्त्री, यदि उसे विशेष प्रकार का पति मिल जाये तो, विवाह के बाद भी उस कुहासे में लिपटी रहेगी। परन्तु यह तभी हो सकता है जब वह यथार्थ में अपने पति से कोई हार्दिक लगाव न रखे, अपने अन्तर के विचार और भावनायें उससे छिपाए रखे और साथ ही एक सीमा तक अपने अंग की नग्नता को भी पति की दृष्टि से बचाती फिरे। परन्तु इस प्रकार की चालों से विवाह अपने चरम उत्कर्ष पर नहीं पहुँच पाएगा। यह उत्कर्ष इस बात पर निर्भर है कि पति-पत्नी में ऐसी स्निग्ध अन्तरंगता हो जिस में भ्रम को कोई स्थान ही न हो। इसके अतिरिक्त, यह दृष्टिकोण कि विवाह के लिए रोमैंटिक प्रेम आवश्यक है, अराजकतावादी है। इस में सेन्ट पॉल के दृष्टिकोण के समान—चाहे यहां यह बात उल्टी दिशा में लागू होती है—यह बात भुला दी जाती है कि विवाह का महत्व तो सन्तान के कारण होता है। सन्तान न हो तो सेक्स से सम्बन्ध रखने वाली किसी भी प्रथा की आवश्यकता नहीं रहेगी, परन्तु सन्तान होते ही पति-पत्नी को, यदि सन्तान के प्रति उनमें तनिक जिम्मेदारी या स्नेह हो, यह महसूस करने पर विवश होना पड़ता है कि अब सबसे अधिक महत्व इस बात का नहीं रहा कि उनके मन में एक दूसरे के प्रति क्या भावनायें हैं।

दासता से स्त्रियों की मुक्ति

आज सेक्स-सम्बन्धी नैतिकता की संक्रमण कालीन स्थिति मुख्यतया दो कारणों से है : पहला है गर्भरोधक साधनों का आविष्कार और दूसरा स्त्रियों की स्वाधीनता । इनमें से पहले कारण पर मैं बाद में विचार करूंगा; इस अध्याय का विषय तो दूसरा कारण है ।

दासता से स्त्रियों की मुक्ति जनवादी आन्दोलन का अंग है । यह फ्रांस की क्रान्ति से आरम्भ हुई, जबकि, जैसा हम पहले कह चुके हैं, विरासत सम्बन्धी विधियों में पुत्रियों के लिए लाभदायक परिवर्तन किया गया । मेरी वोल्स्टन काफ्ट की पुस्तक **विंडीकेशन ऑफ़ द राइट्स ऑफ़ विमॅन** (१७९२ ई०) उन विचारों का फल है, जिन्होंने फ्रांसीसी क्रान्ति को जन्म दिया और जिनका जन्म फ्रांसीसी क्रान्ति के कारण हुआ। उनके समय से लेकर आज तक स्त्रियों द्वारा पुरुषों की बराबरी का दावा निरन्तर अधिक बलपूर्वक किया गया है और उसमें उन्हें सफलता भी मिली है। जॉन स्टुअर्ट मिल की पुस्तक **सब्जेक्शन ऑफ़ विमॅन** बड़ी तर्कसंगत पुस्तक है और उसमें दिल लगती दलीलें दी गई हैं। मिल के तुरन्त बाद की पीढ़ी के विचारशील लोगों पर उस पुस्तक का अत्यधिक प्रभाव रहा है । मेरे माता-पिता उसके शिष्य थे और मेरी माता १८६० ई० के दशाब्द में स्त्रियों के मताधिकार के पक्ष में भाषण दिया करती थीं। स्त्री-अधिकारों की वे इतनी अधिक समर्थक थीं कि जब मेरा जन्म हुआ तो उन्होंने पहली महिला डॉक्टर, श्रीमती गैरेट एन्डरसन की देख-रेख में प्रसव किया था। उस समय डॉक्टर एन्डरसन को योग्यता-प्राप्त डॉक्टर नहीं बनने दिया गया था; वे प्रमाण-पत्र प्राप्त मिडवाइफ़ (दाई) मात्र थीं। प्रारम्भ के उन दिनों में स्त्री-अधिकार आन्दोलन ऊपरी और मध्यवर्ग-

तक ही सीमित था और इस कारण उसमें अधिक राजनीतिक शक्ति नहीं थी। स्त्रियों को मताधिकार देने के लिए प्रत्येक वर्ष एक विधेयक संसद में लाया जाता था, परन्तु यद्यपि हर बार इसे प्रस्तावित किया जाता था और कुछ खास लोग सदैव इसका समर्थन भी करते थे, लेकिन उस समय ऐसा कानून नहीं बन पाया। परन्तु उस काल के मध्य वर्गों की स्त्री-अधिकार के समर्थकों को अपने क्षेत्र में एक बड़ी सफलता हुई और वह यह कि १८८२ ई० में मैरिड विमेंनस प्रॉपर्टी एक्ट—विवाहित स्त्री सम्पत्ति अधिनियम (१८२२ ई०)—पास हो गया। इस अधिनियम के पास होने तक स्थिति यह थी कि विवाहिता स्त्री की जो भी सम्पत्ति होती थी, उस पर उसके पति का नियन्त्रण रहता था। हां, यदि कोई न्यास (ट्रस्ट) बना हो, तो वह उसकी पूंजी को व्यय नहीं कर सकता था। स्त्रियों के आन्दोलन का बाद का राजनीतिक इतिहास पुराना नहीं और सभी उसे जानते हैं; इसलिए उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन यह बात उल्लेखनीय है कि अधिकतर सभ्य देशों में स्त्रियों ने अपने राजनीतिक अधिकार जितनी तेजी से प्राप्त किये हैं, वैसा कोई भी उदाहरण पुराने समय में नहीं मिलता। इस सम्बन्ध में यह सोचने की बात है कि अधिकारों की प्राप्ति दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन की द्योतक है। इसकी तुलना दासता के उन्मूलन से की जा सकती है, परन्तु आधुनिक युग में योरुप के देशों में दासता थी ही नहीं और न उसका सम्बन्ध इतनी प्रगाढ़ता से था जितना कि स्त्री-पुरुषों के परस्पर सम्बन्ध में है।

मैं समझता हूँ कि इस अचानक परिवर्तन के दो कारण हैं: एक ओर तो यह जनवाद के सिद्धान्त का प्रत्यक्ष प्रभाव था, जिसके कारण स्त्रियों की मांगों का कोई भी तर्क-संगत उत्तर ढूंढना असम्भव था और दूसरी ओर यह बात थी कि उन स्त्रियों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही थी जो घर से बाहर जाकर स्वयं अपनी आजीविका कमातीं थीं और अपने दैनिक जीवन के सुख के लिए अपने पिता या पति के अनुग्रह पर निर्भर नहीं थीं। युद्ध काल में यह स्थिति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी, जब स्त्रियों को वे अधिकतर काम करने पड़े जो कि पुरुष किया करते थे। युद्ध से पहले स्त्रियों के मताधिकार के विरुद्ध साधारणतया एक यह आपत्ति की जाती थी कि स्त्रियों का रुझान शान्तिवाद की ओर रहेगा।

युद्ध-काल में उन्होंने बड़े पैमाने पर इस आरोप का खण्डन कर दिखाया, और युद्ध-सम्बन्धी कार्यों में भाग लेने के कारण उन्हें मताधिकार दे दिया गया। सम्भव है कि स्त्री-अधिकार आन्दोलन के आदर्शवादी अग्रगामियों के लिए यह परिणाम निराशाजनक रहा हो, क्योंकि उनका विचार था कि स्त्रियों के राजनीति में पदार्पण करने से राजनीति का नैतिक स्तर ऊंचा उठ जायेगा। परन्तु ऐसा लगता है कि आदर्शवादियों के भाग्य में ही लिखा है कि वे जिस बात के लिए संघर्ष करते हैं, उसकी प्राप्ति उन्हें ऐसे रूप में होती है जिससे उनके आदर्शों का नाश हो जाता है। निस्संदेह, स्त्रियों के अधिकार वास्तव में इस विश्वास पर निर्भर नहीं थे कि स्त्रियां नैतिक या किसी अन्य दृष्टि से पुरुषों से अधिक अच्छी हैं। वे मानवों के रूप में स्त्रियों के अधिकार चाहते थे, बल्कि उनकी यह मांग जनवाद के पक्ष में साधारण तर्क पर आधारित थी। लेकिन जैसा कि किसी दलित वर्ग या देश द्वारा अपने अधिकारों की मांग के समय होता है, स्त्री-अधिकारों के समर्थकों ने यह कह कर सामान्य तर्क की पुष्टि करनी चाही कि स्त्रियों में कुछ विशेष गुण हैं और साधारणतया यह यहा गया कि ये गुण नैतिक क्षेत्र से सम्बन्धित हैं।

परन्तु राजनीतिक दासता से स्त्रियों की मुक्ति का सम्बन्ध हमारे विषय से अप्रत्यक्ष ही है। विवाह और नैतिकता के सम्बन्ध में तो महत्व सामाजिक दासता से स्त्रियों की मुक्ति का है। प्रारम्भिक काल में और पूर्वी जगत में आज तक, स्त्रियों में सदाचारण निष्ठा को उन्हें पृथक रखकर उपलब्ध किया गया। उन्हें अपने मन पर नियन्त्रण रखने योग्य बनाने की कोई चेष्टा नहीं की गई, बल्कि इस बात का भरसक प्रयत्न किया गया कि उन्हें पाप करने का कोई अवसर न दिया जाये। पश्चिमी जगत में इस पद्धति को कभी पूर्णरूपेण नहीं अपनाया गया, परन्तु सम्भ्रान्त स्त्रियों को बचपन से ही इस बात की शिक्षा दी गई कि पति के अतिरिक्त किसी से भी मैथुन बहुत भयंकर बात है। इस शिक्षा की विधियां जितनी सम्पूर्ण होती गईं, उतने ही बाध्य-बन्धन कम-से-कम होते रहे। बाध्य-बन्धन हटाने में जिन्होंने सबसे अधिक काम किया, उन्हें विश्वास था कि आन्तरिक बन्धन ही पर्याप्त होंगे। उदाहरण के लिए, यह समझा जाता था कि अविवाहिता युवती के साथ सखी-सहचरी की आवश्यकता नहीं क्योंकि किसी भद्र

युवती को, जिसका पालन-पोषण उचित ढंग से हुआ है, युवकों की कुचेष्टाओं के आगे झुकने के चाहे कितने ही अवसर क्यों न मिलें, वे पथभ्रष्ट नहीं होंगी। जब मैं युवा था उन दिनों अधिकतर सम्भ्रान्त स्त्रियां यह सोचती थीं कि अधिकांश स्त्रियों को मैथुन अरुचिकर लगता है और वे केवल कर्त्तव्य की भावना से ही पति के साथ मैथुन को सहन कर लेती हैं। इस विचार के कारण वे अपनी पुत्रियों को उससे कहीं अधिक स्वतन्त्रता देने का जोखिम उठाने को तैयार थीं; जितनी कि अधिक यथार्थवादी युगों में उचित समझी जाती थी। इसके परिणाम सम्भवतः वैसे नहीं हुए जैसा कि आशा थी, और यह अन्तर पत्नियों और अविवाहित स्त्रियों के लिए समान रूप से रहा है। विक्टोरिया युग में स्त्रियां मानो एक मानसिक कारागार में थीं और बहुतेरी स्त्रियां आज भी उसी दशा में हैं। ये बन्धन चेतना में स्पष्ट नहीं थे क्योंकि इनका स्रोत अर्ध चेतन मन की अन्तर्बाधाओं में था। हमारे काल के युवा व्यक्तियों में अन्तर्बाधाओं का ह्रास हुआ है, जिसके परिणामस्वरूप उनकी चेतना में वे सहजवृत्तिमूलक कामनायें फिर प्रकट हो हो गयी हैं जो औचित्य की कड़ी धारणाओं के नीचे दबी पड़ी थीं। एक देश या वर्ग में ही नहीं बल्कि सभी सभ्य देशों और वर्गों में, इसका सेक्स-सम्बन्धी नैतिकता पर बड़ा क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ा है।

स्त्रियों और पुरुषों की बराबरी की मांग प्रारम्भ से ही न केवल राजनीतिक मामलों बल्कि सेक्स-सम्बन्धी नैतिकता के बारे में भी थी। मेरी वोल्स्टनक्राफ्ट का दृष्टिकोण सर्वथा आधुनिक था, परन्तु उसके बाद के स्त्री-अधिकारों के समर्थकों ने इस सम्बन्ध में उसका अनुकरण नहीं किया। इसके विपरीत उनमें से अधिकतर कठोर नैतिकतावादी थे, जिनकी इच्छा थी कि पुरुषों पर भी वे नैतिक बन्धन लगा दिये जायें जो अब तक केवल स्त्रियों पर ही लगते थे। परन्तु १९१४ ई० से युवतियों ने, सिद्धान्तों पर बहस-मुबाहिसा किये बिना, भिन्न रास्ता अपना लिया है। इसमें सन्देह नहीं कि युद्ध की भावात्मक उत्तेजना ही एक कारण था जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने ऐसा किया, परन्तु यह बात न होती तो भी शीघ्र ही वे इस रास्ते का अनुसरण करतीं। पहले स्त्रियों के सतीत्व की दो मुख्य प्रेरणाएं थीं: नरकाग्नि का भय या गर्भाधान का डर। इनमें से एक का निराकरण धार्मिक

रूढ़ियों के ह्रास के कारण हो गया और दूसरे को गर्भरोधकों ने हटा दिया। कुछ समय तक तो रिवाज और मानसिक अकर्मण्यता के कारण पारम्परिक नैतिकता बनी रही लेकिन युद्ध के धक्के ने इन प्राचीरों को गिरा दिया। आज के युग में स्त्री-अधिकारों के समर्थकों को पुरुषों के "दुर्गुणों" पर प्रतिबन्ध लगाने की उतनी चिन्ता नहीं है जितनी कि तीस वर्ष पहले थी। आज तो उनकी मांग यह है कि उन्हें भी वे सब बातें कर पाने की इजाज़त हो, जिनकी इजाज़त पुरुषों को हो। इनसे पहिले वाले समर्थक नैतिक दासता में समानता चाहते थे, परन्तु ये नैतिक स्वतन्त्रता में समानता चाहते हैं।

अभी यह आन्दोलन बिल्कुल प्रारम्भिक अवस्था में है और यह कहना असम्भव है कि इसका भावी स्वरूप क्या होगा। इसके समर्थक और इसे कार्यरूप में परिणत करने वाले अधिकतर युवा हैं। जिन लोगों का प्रभाव है या जो महत्व-शाली व्यक्ति हैं, उनमें इस आन्दोलन के समर्थकों की संख्या बड़ी कम है। पुलिस, कानून, चर्च और उनके माता-पिता-शक्ति के इन भण्डारों को—जब भी तथ्यों का पता चलता है तो वे उनका विरोध करते हैं परन्तु युवाओं में इतना दयाभाव है कि वे उन लोगों से तथ्य छिपाते हैं जिन्हें उनके कारण कष्ट होता हो। जज लिंडसे जैसे जो लेखक तथ्यों की घोषणा करते हैं, उनके बारे में वृद्धगण यह सोचते हैं कि वे युवा पीढ़ी को बदनाम कर रहे हैं। यद्यपि युवा पीढ़ी को पता ही नहीं होता कि उसे बदनाम किया जा रहा है।

इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार की स्थिति बड़ी अस्थिर होती है। प्रश्न यह है कि दोनों में से कौन-सी बात पहले होगी : या तो वयोवृद्धों को तथ्यों का पता चल जायगा और वे युवा पीढ़ी को मिली नयी स्वतन्त्रता छीनने के लिए प्रयत्न करने लगेंगे और या युवा पीढ़ी के लोग बड़े होने पर प्रतिष्ठा और महत्व की स्थिति प्राप्त कर लेंगे जिसके कारण नयी नैतिकता को सत्ता की अनुमति संभव हो जाएगी। यह माना जा सकता है कि कुछ देशों में इनमें से एक परिणाम होगा और कुछ में दूसरा। इटली में, जहां अन्य सभी बातों की तरह अनैतिकता के क्षेत्र में भी परमाधिकार सरकार ही के हाथ में है, "सदाचार" लागू करने का भरसक प्रयत्न किया जा रहा है। रूस में इसके बिल्कुल विपरीत बात हो रही

है, क्योंकि वहां सरकार नयी नैतिकता के पक्ष में है। जर्मनी के जिन भागों में प्रोटेस्टेंट रहते हैं, वहां आशा की जा सकती है कि स्वतन्त्रता की विजय होगी, लेकिन जहां केथॉलिक रहते हैं वहां मामला संदिग्ध है। इस बात की बहुत कम सम्भावना है कि फ्रांस में वहां की जनता बहुत दिन से चली आ रही उस परम्परा के बन्धनों से मुक्त हो सकेगी, जिसमें कुछ रूपों में अनैतिकता की अनुमति है, लेकिन उन बन्धनों से परे कोई अनैतिकता नही हो सकती। मैं यह नहीं कह सकता कि इंगलैण्ड और अमेरिका में क्या होगा।

परन्तु एक क्षरण के लिए यह तो सोचिए कि स्त्री-पुरुषों के साथ समानता की मांग का तर्क-संगत निष्कर्ष क्या निकलता है। आदिकाल से ही पुरुषों को, सिद्धान्त रूप में नहीं तो व्यवहार रूप में, अनुचित सेक्स-सम्बन्ध रखने की अनुमति रही है। पुरुष से यह आशा कभी नहीं की गयी कि विवाह तक उसने कभी सम्भोग न किया हो और विवाह के बाद भी परस्त्री से उसके सम्बन्धों का, उसकी पत्नी और पड़ोसियों को कभी ज्ञान न हो, तो उन्हें बहुत बुरा नहीं माना जाता। इस प्रणाली का अस्तित्व वेश्याओं के कारण ही सम्भव हो पाया है। लेकिन वेश्या-वृत्ति की प्रथा ऐसी है, जिसे आधुनिक युग में उचित प्रमाणित करना कठिन है और कोई यह नहीं कहेगा कि जो पत्नियां अपने पतियों की तरह ही, बिना सदाचार के सदाचार का ढोंग बनाए रखना चाहती हों, उनकी सन्तुष्टि के लिए पुरुष-वेश्याओं का एक वर्ग बना दिया जाये और इस प्रकार स्त्रियों को वही अधिकार प्राप्त हों जो कि पुरुषों को प्राप्त हैं। लेकिन आज के युग में, अधिक आयु में विवाह किया जाता है और यह निश्चित है कि ऐसे पुरुष बहुत कम संख्या में मिलेंगे जो अपने वर्ग की स्त्री के साथ घर बसाने योग्य होने तक संयमी रहे हों। और यदि अविवाहित पुरुष संयमी नहीं रहेंगे तो बराबरी के अधिकारों के आधार पर अविवाहित स्त्रियां भी यह कहेंगी कि उन्हें भी संयम करने की आवश्यकता नहीं है। नैतिकतावादी लोगों के लिए यह स्थिति अवश्य शोचनीय है। कोई भी परम्परा-निष्ठ नैतिकतावादी सोचने का कष्ट करे तो उसे पता चलेगा कि व्यावहारिक रूप में वह दोमुँही नीति में विश्वास रखता है, अर्थात् उसका दृष्टिकोण यह है कि पुरुष की अपेक्षा स्त्री में यौन सदाचार का होना अधिक आवश्यक है। तर्क के

रूप में तो यह बात बिल्कुल ठीक है कि सैद्धान्तिक नैतिकता की दृष्टि से पुरुषों को भी संयम बरतना चाहिए; लेकिन इस का स्पष्ट प्रत्युत्तर यह है कि पुरुषों पर संयम लागू करना असम्भव है, क्योंकि वे छिप कर आसानी से पाप कर सकते हैं। इस प्रकार परम्परानिष्ठ नैतिकतावादी स्त्री की अपनी इच्छा के विरुद्ध, न केवल पुरुष और स्त्री की असमानता, बल्कि इस बात में भी विश्वास करने पर विवश होता है कि युवक के लिए अपने वर्ग की युवती की अपेक्षा वेश्या के साथ सम्भोग करना अधिक अच्छा है, यद्यपि यह बात निश्चित है कि वेश्या की अपेक्षा अपने वर्ग की युवती के साथ उसके सम्बन्ध धन के लोभ से नहीं होते और उनमें स्नेह और सुख की सम्भावना भी है। परन्तु नैतिकतावादी उस नैतिकता की पैरवी करने के परिणामों पर विचार नहीं करते, जिसके पालन का उन्हें विश्वास नहीं है। वे समझते हैं कि जब तक वे वेश्यागमन की पैरवी नहीं करते, तब तक उन्हें इस बात के लिए उत्तरदायी नहीं कहा जा सकता कि वेश्यावृत्ति उन्हीं की शिक्षा का अनिवार्य परिणाम है। परन्तु यह तो इस सर्व विदित बात का एक उदाहरण है कि हमारे युग के पेशेवर नैतिकतावादी में भी चतुरता होती है।

ऊपर जिन परिस्थितियों का उल्लेख किया गया है, उनमे स्पष्ट है कि जब तक अधिकतर पुरुषों के लिए आर्थिक कारणों से जल्दी विवाह कर पाना असम्भव होता है और बहुत-सी स्त्रियों का विवाह हो ही नहीं पाता, पुरुषों और स्त्रियों की समानता के लिए, स्त्रियों के सदाचार के परम्परागत मानकों को ढीला करना पड़ेगा। यदि पुरुषों को विवाह से पहले सम्भोग की अनुमति दी जाती है (जैसा कि वास्तव में है) तो स्त्रियों को भी इस बात की अनुमति होनी चाहिए। और उन सब देशों में, जहां पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की संख्या अधिक होने के कारण बहुत-सी स्त्रियों को पति नहीं मिल पाते, उन्हें सेक्स-सम्बन्धी अनुभव से वंचित रखना अन्याय है। इसमें सन्देह नहीं कि स्त्री-अधिकारों के आन्दोलन के अग्रगामियों ने इस प्रकार के परिणामों की कल्पना नहीं की थी, परन्तु उनके आधुनिक अनुयायी इस बात को स्पष्टतया अनुभव करते हैं। और जो भी इन निगमनात्मक तथ्यों का विरोध करता है उसे इस तथ्य को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि वह स्त्रियों के प्रति न्याय का समर्थक नहीं है।

पुरानी बनाम नई नैतिकता के इस प्रश्न से एक स्पष्ट समस्या उत्पन्न होती है। यदि कुमारियों से अक्षत-योनि रहने और पत्नियों से सतीत्व की मांग नहीं की जाती है, तो यह आवश्यक है कि या तो कुटुम्ब की सुरक्षा की नई पद्धतियाँ खोजी जायें और या कुटुम्ब का छिन्न-भिन्न होना स्वीकार कर लिया जाये। यह कहा जा सकता है कि सन्तानोपत्ति विवाह में ही होनी चाहिए और विवाहेतर मैथुन को गर्भरोधकों के प्रयोग से निष्प्रभावी बना देना चाहिए। उस दशा में सम्भव है कि पति अपनी पत्नी के प्रेमियों के प्रति इतने ही सहिष्णु बन सकें जितने कि पूर्वीय देशों के लोग हिजड़ों के प्रति होते हैं। अभी तक इस योजना की कठिनाई यह है कि हमें गर्भरोधकों की प्रभावशीलता और पत्नियों की सत्यवादिता पर उससे कहीं अधिक भरोसा करना पड़ेगा, जितना कि तर्क-संगत लगता है। परन्तु समय के साथ इस कठिनाई को कम किया जा सकता है। नयी नैतिकता के साथ मेल खाने वाला दूसरा विकल्प यह है कि महत्वपूर्ण सामाजिक प्रथा के रूप में पितृत्व का ह्रास हो जाये और राज्य पिता के कर्त्तव्य संभाल ले। कुछ विशेष मामलों में, जहां पुरुष को विश्वास हो कि बच्चा उसी का है और उसे बच्चे से स्नेह हो, तो वह माँ और बच्चे के भरण-पोषण की व्यवस्था करता रहे जैसा कि आजकल के पिता करते हैं, परन्तु कानून उसे ऐसा करने पर विवश नहीं कर सकता। इसमें सन्देह नहीं कि सभी बच्चों की स्थिति आजकल के उन जारज बच्चों जैसी होगी जिनके पिता का पता नहीं होता; अन्तर केवल इतना होगा कि राज्य इसे सामान्य बात मान कर उनके भरण-पोषण के लिए आज की अपेक्षा अधिक प्रयत्नशील रहेगा।

यदि इसके विपरीत, पुरानी नैतिकता को फिर से प्रतिष्ठापित करना हो तो कुछ आवश्यक कदम उठाने पड़ेंगे। उनमें से कुछ तो आज भी उठाए जाते हैं, लेकिन अनुभव से सिद्ध होता है कि अकेले वही प्रभावी नहीं होते। पहली आवश्यक बात तो यह है कि लड़कियों की शिक्षा इस ढंग की हो कि वे मूढ़, अंधविश्वासिनी तथा ज्ञान-रहित हों; और जिन स्कूलों पर चर्चों का तनिक भी नियन्त्रण है, वहां यह आवश्यकता पूरी हो रही है। दूसरी आवश्यक बात यह है कि सेक्स-सम्बन्धी विषयों की जानकारी देने वाली सभी पुस्तकों पर कड़ा सेंसर

बिठा दिया जाये। इंगलैंड और अमेरिका में यह आवश्यकता भी पूरी की जा रही है, जहां कानून में परिवर्तन किये बिना, पुलिस के बढ़ते हुए उत्साह के कारण सेंसर कड़ा हो रहा है। परन्तु ये शर्तें यद्यपि पूरी हो ही रही हैं, लेकिन स्पष्ट है कि ये अपर्याप्त हैं। पर्याप्त तो एक ही बात होगी और वह यह कि युवतियों से प्रत्येक ऐसा अवसर छीन लिया जाये, जब कि वे अकेली पुरुषों से मिल सकें। लड़कियों को घर से बाहर जा कर आजीविका कमाने के लिए काम करने से रोका जाये। उन्हें तब तक आमोद-प्रमोद के लिए बाहर न जाने दिया जाये जब तक कि उनके साथ मां या चची न हो। बिना सखी सहचरी के नृत्य के लिए जाने की प्रथा बिल्कुल बन्द कर दी जाये। ५० वर्ष से कम आयु की अविवाहित स्त्री के लिए मोटर कार रखना अवैध कर दिया जाये और अच्छा तो सम्भवतः यह होगा कि पुलिस के डाक्टर महीने में एक बार सभी अविवाहित स्त्रियों की परीक्षा करें और उनमें से जो अक्षत-योनि न हों उन्हें जेल भेज दिया जाये। गर्भरोधकों का प्रयोग भी सर्वथा बन्द कर देना चाहिए और अविवाहित स्त्रियों के साथ बातचीत में चिर-नरक की यातना के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट करना भी अवैध घोषित कर दिया जाये। यदि सौ वर्ष या उससे भी अधिक समय तक इन उपायों को कड़ाई से लागू किया जाये तो सम्भवतः अनैतिकता की बढ़ती हुई धारा को रोकने के लिए कुछ किया जा सकेगा। परन्तु मेरा विचार है कि कुछ बुराइयों का जोखिम हटाने के लिए यह आवश्यक होगा कि पुलिस के सभी आदमियों और डाक्टरों को बधिया कर दिया जाये। पुरुष स्वभाव में निहित दुराचार को ध्यान में रखते हुए, इस नीति को सम्भवतः एक कदम और आगे ले जाना पड़ेगा। मेरा विचार है कि नैतिकतावादियों को यह कहना चाहिए कि पादरियों को छोड़ कर सभी पुरुषों को बधिया कर दिया जाय।[1]

आप यह देखेंगे कि हम चाहे जो भी रास्ता अपनाएं, कुछ न कुछ आपत्तियां या कठिनाइयां अवश्य रहेंगी। यदि हम नयी नैतिकता को अपने रास्ते पर जाने दें तो यह उससे भी आगे निकल जायेगी, जहां तक यह पहुँच चुकी है और कुछ

---

१. परन्तु ऐलमर गैंट्री को पढ़ने के बाद मैं यह अनुभव करने लगा हूँ कि सम्भवतः यह अपवाद भी नहीं करना चाहिए।

ऐसी कठिनाइयां उत्पन्न होंगी, जिन्हें अभी तक हम समझ नहीं पाए हैं। दूसरी ओर, यदि हम आधुनिक संसार में वे प्रतिबन्ध लगाने की चेष्टा करें जो पुराने युग में सम्भव थे तो हमें इतने कड़े नियम बनाने पड़ेंगे कि मानव स्वभाव जल्दी ही उन के प्रति विद्रोह कर उठेगा। यह बात इतनी स्पष्ट है कि चाहे जो भी जोखिम या कठिनाइयां हों, हमें इस बात पर सन्तोष करना पड़ेगा कि पीछे जाने की अपेक्षा संसार आगे की ओर जाये। इस प्रयोजन के लिए हमें यथार्थ रूप में एक नयी नैतिकता की आवश्यकता पड़ेगी। मेरा अभिप्राय यह है कि आभारों और कर्त्तव्यों को तो फिर भी मानना पड़ेगा, यद्यपि वे उन आभारों और कर्त्तव्यों से भिन्न होंगे जोकि पुराने समय में माने जाते थे। जब तक नैतिकतावादी पुरानी, मृत नैतिक प्रणाली का उपदेश दे कर ही चुप हो जाते हैं, तब तक वे नयी स्वतन्त्रता में नैतिकता का संचार नहीं कर सकते और न उन कर्त्तव्यों पर प्रकाश डाल सकते हैं जोकि इस स्वतन्त्रता के साथ ही आते हैं। मैं समझता हूँ कि नयी प्रणाली में—और न ही पुरानी प्रणाली में—यह बात निहित नहीं होनी चाहिए कि आप मनोवेग को स्वच्छन्द छोड़ दें, परन्तु मेरा विचार है कि मनोवेगों पर प्रतिबन्ध लगाने के अवसर और प्रेरणा पुरातन काल की अपेक्षा भिन्न होनी ही चाहिए। सच तो यह है कि सेक्स-सम्बन्धी नैतिकता की सारी समस्या पर नये सिरे से विचार करने की आवश्यकता है। बाद के अध्यायों में मैंने इस कार्य में योग देने का—चाहे वह तुच्छ ही हो—प्रयत्न किया है।

अध्याय ८

यौन ज्ञान के सम्बन्ध मे रूढ़-निषेध

नयी यौन नैतिकता के निर्माण के प्रयत्न में हमें अपने आप से यह प्रश्न नहीं पूछना है कि स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों का विनियमन कैसे किया जाये बल्कि यह पूछना है कि क्या यह ठीक है कि पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों को सेक्स-सम्बन्धी तथ्यों के बारे में कृत्रिम रूप से वंचित रखा जाये ? पहले ही यह प्रश्न पूछने का कारण यह है, जैसा कि मैं इस अध्याय में दर्शाने का प्रयत्न करूंगा, कि इस सम्बन्ध में अज्ञानता व्यक्ति के लिए बहुत ही अधिक हानिकारक है। इसलिए ऐसी कोई भी प्रणाली वांछनीय नहीं हो सकती जिसे बनाए रखने के लिए इस प्रकार की अज्ञानता आवश्यक हो। मेरा अभिप्राय यह है कि यौन नैतिकता ऐसी होनी चाहिए जिसे बहुत व्यक्ति पसन्द करें, न कि ऐसी हो कि लोग अज्ञानता के कारण ही उसकी ओर आकृष्ट हों। यह बात उस बड़े सिद्धान्त का अंग है जो तर्क की दृष्टि से अकाट्य है, यद्यपि सरकार या पुलिस ने उस पर कभी विश्वास नहीं किया। वह सिद्धान्त यह है कि सच्चे आचार का सम्वर्धन, अज्ञानता से नहीं हो सकता और ज्ञान उसके रास्ते में बाधा नहीं डालता। इसके अपवाद भी विरले ही मिलेंगे। हां, यह सच है कि यदि 'क' चाहता है कि 'ख' ऐसे ढंग से कार्य करे जो 'क' के हित में है, परन्तु 'ख' के हित में नहीं, तो 'क' का हित इसी में है कि वह 'ख' को उन तथ्यों का पता न लगने दे जिनसे उसे अपने सच्चे हित का ज्ञान हो जायगा। शेयर बाजार में तो यह तथ्य सर्वमान्य है, परन्तु साधारणतया यह नहीं समझा जाता कि इस का क्षेत्र नैतिकता के उच्च स्तरों में है। यही बात सरकार द्वारा तथ्य छिपाने के लिए किए जाने वाले कृत्यों पर लागू होती है। उदाहरण के लिए, प्रत्येक सरकार की कामना होती है कि युद्ध-काल में इस

प्रकार का कोई उल्लेख न होने दिया जाये कि पराजय होगी, क्योंकि पराजय का पता चल जाने से सरकार के पदच्युत होने का भय रहता है। सरकार का पदच्युत होना चाहे राष्ट्रीय हित में हो परन्तु सरकार के हित में तो नहीं होता। यौन सम्बन्धी तथ्यों के बारे में में चुप्पी साध लेने की प्रवृत्ति का मुख्य उद्गम, कम से कम आंशिक रूप में, ऐसा ही प्रयोजन है। परन्तु यह बात मुख्यतः दूसरे क्षेत्र की है। प्रारम्भ में तो केवल स्त्री जाति को ज्ञान से वंचित रखा जाता था और उनकी अज्ञानता को पुरुषों का प्रभुत्व बनाए रखने के लिए सहायक माना जाता था। परन्तु धीरे-धीरे स्त्रियों ने इस दृष्टिकोण को अपना लिया कि सदाचार के लिए अज्ञानता आवश्यक है, और आंशिक रूप से उन्हीं के प्रभाव के कारण यह विचार प्रतिष्ठित हो गया कि बच्चों और नवयुवाओं को—चाहे वे लड़के हों या लड़कियां —यथासम्भव यौन विषयों के ज्ञान से वंचित रखा जाय। इस अवस्था में इसका प्रयोजन प्रभुत्व बनाये रखना नहीं रहा बल्कि इसने अविवेक पूर्ण रूढ़-निषेध का रूप धारण कर लिया। इस प्रश्न की जांच कभी नहीं की जाती कि अज्ञानता वाछनीय है या नहीं और यह साक्ष्य देना भी अवध बन जाता है कि अज्ञानता से हानि होती है। इस सम्बन्ध में २५ अप्रैल १९२९ ई० के **मांचेस्टर गार्डियन** के निम्न-लिखित उद्धरण को इस विषय के सम्बन्ध में अपनी ही टिप्पणी मान लेता हूँ :

> कल ब्रूकलिन के न्यायालय में फ़ैडरल जूरी ने मिसेज़ मेरी वेयर डेनेट को दोषी ठहराया, जिन पर डाक द्वारा अश्लील साहित्य भेजने का आरोप था। मुकदमे का यह निर्णय सुन कर अमेरिका के उदारपंथी लोगों को बड़ी ठेस पहुँची है। मिसेज़ डेनेट ने एक पुस्तिका लिखी है जिसमें बच्चों के लिए यौन सम्बन्धी प्रारम्भिक ज्ञान बड़ी संयत भाषा में दिया हुआ है। यह पुस्तिका बहुत बिकी है और इसकी प्रशंसा भी बहुत हुई है। लेखिका को पांच वर्ष का कारावास या १००० पौंड जुर्माना या दोनों दण्ड दिये जा सकते हैं।
>
> मिसेज़ डेनेट सुविख्यात सामाजिक कार्यकर्त्री हैं और दो युवा लड़कों की मां हैं। उन्होंने ग्यारह वर्ष पहले अपने बेटों की शिक्षा के लिए ही यह पुस्तिका लिखी थी। चिकित्सा सम्बन्धी एक पत्रिका में इसका प्रथम प्रकाशन हुआ और सम्पादक की प्रार्थना पर इसे पुस्तिका का रूप दिया गया। दर्जनों प्रमुख डाक्टरों, पादरियों और समाज-शास्त्रियों ने इसे पसन्द किया है और यंग मेन और यंग विमेन्स क्रिश्चियन असोसिएशन

दोनों ने इस की हज़ारों प्रतियां बांटी हैं। इस का प्रयोग न्यूयार्क की फैशनेबल बस्ती, ब्रोंक्सविल के म्युनिसिपल स्कूलों में भी हुआ है।

न्यायालय के अध्यक्ष, फ़ैडरल जज वारेन वी० वरोंज़ थे, जो न्यू इंगलैण्ड के रहने वाले हैं। उन्होंने सारे पूर्वोक्त तथ्यों को नियम विरुद्ध ठहराया और सुविख्यात शिक्षकों और डाक्टरों को गवाही देने की अनुमति नहीं दी और न प्रमुख लेखकों को अनुमति दी कि वे जूरी के सामने मिसेज़ डेनेट की पुस्तिका के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कर सकें। मुकदमा केवल इसी बात तक सीमित रहा कि पुस्तिका जूरी को पढ़ कर सुनाई गई। जूरी में ब्रूकलिन के वयोवृद्ध विवाहित पुरुष थे। और उन्हें केवल इस आधार पर चुना गया था कि उन्होंने कभी एच० एल० मेन्केन या हैवलॉक एलिस की कोई पुस्तक नहीं पढ़ी थी। अभियोक्ता पक्ष के वकील ने जूरी के लिए यही कसौटी निर्धारित की थी।

स्पष्ट है कि न्यूयार्क वर्ल्ड का यह विचार ठीक है कि यदि मिसेज़ डेनेट की पुस्तिका के वितरण की अनुमति नहीं दी जाती तो अमेरिका की युवा पीढ़ी के सामने सेक्स के सम्बन्ध में स्पष्ट और ठीक-ठीक बातें रखने की कोई आशा नहीं है। इस मुकदमे की अपील बड़े न्यायालय में की जायेगी और उसके निर्णय की प्रतीक्षा बड़ी दिलचस्पी से की जा रही है।

संयोग की बात है कि यह मुकदमा अमेरिका में चला परन्तु यह इंगलैण्ड में भी हो सकता था, क्योंकि इंगलैण्ड में भी कानून लगभग वैसा ही है जैसा कि अमेरिका में है। आप देखेंगे कि कानून युवा लोगों तक सेक्स-सम्बन्धी ज्ञान पहुँचाने वाले व्यक्ति को विशेषज्ञों का साक्ष्य लाने की अनुमति नहीं देता, जिस से प्रकट हो जायेगा कि युवा व्यक्तियों के लिए सेक्स का ज्ञान वांछनीय है। यह भी स्पष्ट है कि जहां इस प्रकार का मुकदमा चलाया जाता है, वहां अभियोक्ता पक्ष इस बात पर अड़ सकता है कि जूरी में अज्ञानी व्यक्ति ही होंगे, जिन्होंने कोई ऐसी पुस्तक नहीं पढ़ी, जिसके आधार पर वे मामले को विवेक की दृष्टि से परख सकें। कानून स्पष्ट रूप से यह घोषणा करता है कि बच्चों और युवा व्यक्तियों को सेक्स के तथ्यों का कभी पता नहीं चलना चाहिए और यह प्रश्न सर्वथा असंगत है कि उनके लिए इन तथ्यों को जानना अच्छा है या बुरा। जो भी हो, हम तो न्यायालय में नहीं खड़े और न ही यह पुस्तक बच्चों के लिए लिखी गई है, इसलिए हमें इस प्रश्न पर तर्क-वितर्क करने की अनुमति है कि बच्चों को अधिकृत रूप से

इस ज्ञान से वंचित रखने की पारम्परिक प्रथा वांछनीय है या अवांछनीय।

बच्चों के साथ पारम्परिक व्यवहार यही रहा है कि जहां तक हो सकता था माता-पिता और शिक्षक उन्हें अज्ञानता के अंधकार में ही रखते थे। वे अपने माता-पिता को कभी नग्नावस्था में नहीं देख पाते थे और शैशव के वाद (यदि घर में रहने का स्थान पर्याप्त हो तो) अपने भाई-बहिनों को भी नग्नावस्था में नहीं देख पाते थे। उनसे कहा जाता था कि अपनी जननेन्द्रियों को कभी हाथ न लगाएं और न कभी उनके सम्बन्ध में बात ही करें। यौन सम्बन्धी सभी प्रश्नों का उत्तर "हिश्! चुप!" कह कर ही दिया जाता था। उनसे कहा जाता था कि वगुले अपनी चोंच में बच्चों को लाते हैं या यह कि बच्चे काकबदरी की झाड़ी के नीचे मिलते हैं। कभी न कभी उन्हें वास्तविक तथ्यों का ज्ञान, कुछ न कुछ ग़लत रूप में, अन्य बच्चों से हो ही जाता था। बच्चे छिप कर एक दूसरे को ये बातें बताते थे और माता-पिता की शिक्षा के परिणामस्वरूप इन्हें "गन्दी" वातें समझते थे। बच्चे इस निष्कर्ष पर पहुँचते थे कि उनके माता-पिता का एक दूसरे के साथ व्यवहार गन्दा है जिस पर उन्हें स्वयं लज्जा आती है, क्योंकि वे इसे छिपाने के लिए इतना कुछ कष्ट करते हैं। उन्हें यह भी पता चल जाता था कि जिन लोगों से हम पथ प्रदर्शन और शिक्षा की आशा करते रहे हैं, उन्हीं लोगों ने हमें बड़े ढंग से धोखा दिया है। इस प्रकार अपने माता-पिता, विवाह और दूसरे लिंग के प्रति उनका दृष्टिकोण सदा के लिए विषाक्त हो जाता था। जिन लोगों का भरण-पोषण चले आए रिवाजों के अनुसार हुआ है, उनमें ऐसे स्त्री-पुरुषों की संख्या बहुत कम होगी जिन्होंने सेक्स या विवाह को गन्दा नहीं समझा है। शिक्षा-दीक्षा ने उन्हें यही सिखाया है कि माता-पिता और अध्यापक कपट व झूठ को सद्गुण समझते हैं, कि विवाह के बाद के यौन सम्बन्ध भी जुगुप्सापूर्ण हैं, और यह कि प्रजनन करते समय पुरुष पाशविक स्वभाव का परिचय देते हैं और स्त्रियां कष्टप्रद कर्त्तव्य निभाती हैं। इस दृष्टिकोण के कारण स्त्रियों और पुरुषों दोनों के लिए विवाह असन्तोषजनक बन गया है और सहज वृत्तिमूलक सन्तोष क्रूरता बन गया है जिसने नैतिकता का वेश धारण कर रखा है।

मेरा विचार है कि सेक्स के ज्ञान के सम्बन्ध में संकीर्ण नैतिकतावादियों[1] के

१. इन में पुलिस और मजिस्ट्रेट तो आ जाते हैं परन्तु आधुनिक शिक्षक नहीं आते।

विचार निम्नलिखित रूप में व्यक्त किए जा सकते हैं :

सेक्स का आवेग बड़ा शक्तिशाली होता है और विकास की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न रूपों में प्रकट होता है। शैशवावस्था में यह शरीर के कुछ अंगों को स्पर्श करने की इच्छा के रूप में प्रकट होता है। बाल्यावस्था में यह जिज्ञासा और "गन्दी" बातें करने की इच्छा का रूप धारण कर लेता है और किशोरावस्था में अधिक विकसित रूप में आता है। इसमें सन्देह नहीं कि सेक्स-दुराचार सेक्स सम्बन्धी विचारों के कारण होता है और सदाचार का सर्वोत्तम उपाय यह है कि युवा व्यक्तियोंको तन-मन से उन कामों में लगाये रखना चाहिए जिन का सेक्स से कोई भी सम्बन्ध न हो। इसलिए उन्हें सेक्स के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं बताना चाहिए। उन्हें इस सम्बन्ध में परस्पर बातचीत करने से यथा-सम्भव रोकना चाहिए और प्रौढ़ व्यक्तियों को ऐसे दिखाना चाहिए मानो इस प्रकार का कोई विषय है ही नहीं। इन उपायों से लड़की को विवाह की पहली रात तक अज्ञानता में रखा जा सकता है और यह आशा की जा सकती है कि सुहागरात को जब वास्तविकता का ज्ञान होगा तो उसे इतना धक्का पहुँचेगा कि सेक्स के प्रति उसकी अभिवृत्ति बिल्कुल वैसी हो जायेगी जैसी कि प्रत्येक शुद्ध नैतिकतावादी स्त्रियों के लिए वांछनीय समझता है। इस सम्बन्ध में लड़कों के बारे में अधिक कठिनाई का अनुभव होगा क्योंकि हम यह आशा नहीं कर सकते कि उन्हें १८ या १९ वर्ष से अधिक आयु तक अज्ञानता में रख सकें। उनके लिए उचित तरीका यह है कि उन्हें बताया जाये कि हस्तमैथुन से पागलपन की बीमारी हो जाती है और वेश्याओं के साथ मैथुन से सदा रति-रोग हो जाते हैं। इन दोनों में से कोई भी बात सच नहीं है, बल्कि सफ़ेद झूठ हैं। लेकिन ये नैतिकता के हित में कही जाती हैं। लड़के को सदा यह सिखाना चाहिए कि यौन विषयों के सम्बन्ध में बातचीत करना विवाह के बाद भी निषिद्ध है। इस से यह सम्भावना बढ़ जाती है कि विवाह के बाद वह अपनी पत्नी में सेक्स के प्रति जुगुप्सा उत्पन्न कर देगा और इस प्रकार उसे पर-पुरुषगमन के भय से बचाए रहेगा। विवाह के अतिरिक्त सेक्स पाप है, विवाह के बाद सेक्स पाप नहीं है; क्योंकि यह मानव जाति को बचाए रखने के लिए आवश्यक है। परन्तु यह अरुचि-

कर कर्त्तव्य है जो कि आदम के पाप के दण्ड के रूप में उस पर थोपा गया है और इसे उसी भावना से निभाना चाहिए, जिस भावना से कि कोई चीर-फाड़ का आपरेशन कराया जाता है। दुर्भाग्यवश, यदि इस सम्बन्ध में बहुत सावधानी नहीं बरती गई तो सम्भोग और आनन्द एक दूसरे के पर्याय लगने लगेंगे। परन्तु पर्याप्त नैतिक सावधानी बरती जाये तो कम-से-कम स्त्रियों में इस धारणा का निराकरण किया जा सकता है। इंगलैण्ड में किसी सस्ते प्रकाशन में यह लिखना अवैध है कि पत्नी सम्भोग से आनन्द लाभ कर सकती है और उसे करना चाहिए। मैंने स्वयं सुना है कि कुछ दूसरे कारणों के साथ-साथ इस कारण से भी, एक न्यायालय में, एक पुस्तिका को अश्लील कहा गया। कानून, चर्च और युवकों के पुराने ढंग के शिक्षकों की अभिवृत्ति यौन सम्बन्धी उपर्युक्त दृष्टिकोण पर आधारित है।

इस दृष्टिकोण का सेक्स के क्षेत्र में क्या प्रभाव पड़ता है, उस पर विचार करने से पहले मैं इस सम्बन्ध में कुछ शब्द कहना चाहता हूँ कि अन्य दिशाओं में इस के क्या परिणाम होते हैं। मेरे विचार में इस का पहला और गम्भीरतम परिणाम यह होता है कि युवा व्यक्तियों की वैज्ञानिक जिज्ञासा में बाधा पड़ती है। कुशाग्रबुद्धि बच्चे संसार में प्रत्येक वस्तु के बारे में जानना चाहते हैं। वे गाड़ियों, मोटरकारों और हवाई जहाज़ों के सम्बन्ध में प्रश्न पूछते हैं। वे जानना चाहते हैं कि वर्षा कैसे होती है और बच्चे कैसे आते हैं। बच्चे के लिए इस प्रकार की सारी जिज्ञासा एक ही स्तर पर है। वह तो केवल उसी का अनुसरण कर रहा है जिसे पावलोव ने 'यह-क्या-है ?' प्रतिवर्त कहा है और जो सारे वैज्ञानिक ज्ञान का स्रोत है। जब बच्चे को ज्ञान-कामना की पूर्ति के प्रयत्न में यह पता चलता है कि कुछ दिशाओं में उस की इस कामना को दुष्ट समझा जाता है तो उसकी वैज्ञानिक जिज्ञासा के सम्पूर्ण मनोवेग में बाधा आ पड़ती है। प्रारम्भ में उसकी समझ मे नहीं आता कि किस प्रकार की जिज्ञासा प्रकट करने की उसे इजाज़त है और किस प्रकार की नहीं। यदि यह पूछना दुष्टता है कि बच्चे कैसे बनते हैं तो सम्भव है कि यह पूछना भी उतनी ही दुष्टता है कि हवाई जहाज़ कैसे बनते हैं। जो भी हो, उसे इसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए विवश होना पड़ता

है कि वैज्ञानिक जिज्ञासा खतरनाक मनोवेग है जिसे रोकना ही चाहिए। किसी बात को जानने की चेष्टा करने से पहले उसे यह सोचना पड़ता है कि यह ज्ञान अच्छा है या बुरा। और क्योंकि आम तौर पर यौन सम्बन्धी जिज्ञासा बड़ी उत्कट होती है और उसके धीरे-धीरे कम होने तक, बच्चा इस निष्कर्ष पर पहुँच लेता है कि उसे जिस ज्ञान की कामना है वह दुष्ट है। सिर्फ सद्ज्ञान ऐसी चीज़ है जिसकी कामना सम्भवतः किसी मानव को नहीं हो सकती, जैसे कि गणित के पहाड़े। इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा नष्ट हो जाती है जो कि सभी स्वस्थ बच्चों का सहज-स्फूर्त मनोवेग है और बच्चे कृत्रिम रूप से मूढ़ बने रहते हैं। मैं समझता हूँ कि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां साधारणतया अधिक मूढ़ होती हैं। और मेरा विश्वास है कि इस का बहुत बड़ा कारण यह है कि युवावस्था में उन्हें यौन ज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्नों की ओर से अधिक प्रभावशाली ढंग से रोके रखा जाता है।

इस बौद्धिक हानि के अतिरिक्त अधिकतर दशाओं में बड़ी गम्भीर नैतिक हानि भी होती है। जैसा कि पहले-पहल फ्रायड ने प्रमाणित किया और जैसा कि बच्चों से घनिष्टता रखने वाला प्रत्येक व्यक्ति जानता है, बगुले और काक-बदरी की झाड़ी की कहानियों पर विश्वास नहीं किया जाता। इस प्रकार बच्चा इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि माता-पिता उसके सामने झूठ बोलते हैं। यदि वे एक बात के सम्बन्ध में झूठ बोलते हैं तो दूसरी किसी बात के सम्बन्ध में भी झूठ बोल सकते हैं और इस प्रकार उनका नैतिक तथा मानसिक अधिकार नष्ट हो जाता है। और फिर जब सेक्स के सम्बन्ध में माता-पिता ही झूठ बोलते हैं, तो बच्चे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे भी इन विषयों पर झूठ बोल सकते हैं। वे आपस में इन विषयों पर बातचीत करते हैं और बहुत सम्भव है कि छिप कर हस्तमैथुन भी करते हों। इस प्रकार उन्हें कपट और छिपाव की आदतें पड़ जाती हैं, और माता-पिता की धमकियों से उन के जीवन पर भय की छाया पड़ जाती है। मनोविश्लेषण करने वालों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि न केवल बचपन में बल्कि वयस्क जीवन में भी स्नायु-विकारों का कारण बहुधा यह होता है कि माता-पिता और नर्सें बच्चों को यह धमकाती रहती हैं कि हस्त-

मैथुन के परिणाम बहुत बुरे होते हैं।

सेक्स के प्रति बच्चों के सामने जो परम्परागत दृष्टिकोण रखा जाता है, उसका प्रभाव यह होता है कि बड़े होकर वे मूढ़, कपटी और कायर बन जाते हैं और ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं है जो इस कारण पागलपन या इसी जैसे अन्य मानसिक विकारों से पीड़ित होते हैं।

ये तथ्य किसी सीमा तक उन सभी कुशाग्रबुद्धि लोगों को मालूम हैं जिन्हें बच्चों से वास्ता पड़ता है। परन्तु कानून को या उस की व्यवस्था करने वालों को अभी इन का पता नहीं चला जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भ में उद्धृत मामले से स्पष्ट है। तो इसलिए आज स्थिति यह है कि बच्चों से वास्ता रखने वाले प्रत्येक सुविज्ञ व्यक्ति के सामने सिर्फ दो रास्ते हैं, जिन में से एक को उन्हें चुनना पड़ता है : या तो वह कानून भंग करे और या अपने बच्चों को ऐसी नैतिक तथा मानसिक क्षति पहुँचाए, जिसका कोई प्रतिकार नहीं है। कानून को बदलना कठिन है क्योंकि अधिकतर वयोवृद्ध व्यक्तियों की मनोवृत्ति इतनी विकृत है कि सेक्स का आनन्द उन की दृष्टि में केवल इसी विश्वास पर आधारित है कि सेक्स दुष्ट और गन्दा है। मेरा विचार है कि जो लोग आज बूढ़े या अधेड़ आयु के हैं उनके मरने के बाद ही किसी सुधार की आशा की जा सकती है।

अब तक हम यौन क्षेत्र के बाहर परम्परागत पद्धतियों के कुप्रभावों पर विचार करते रहे हैं ; अब हमें इस प्रश्न के अधिक निश्चयात्मक यौन विषयक पहलूओं पर विचार करना चाहिए। नैतिकतावादी का एक लक्ष्य तो निस्सन्देह यह है कि यौन विषयों पर मनोग्रस्ति को रोका जाये। आजकल इस प्रकार की मनोग्रस्ति असाधारण रूप में विद्यमान है। ईटन के एक भूतपूर्व प्रधान अध्यापक ने हाल में कहा था कि स्कूल के लड़कों की बातचीत लगभग सदा या तो नीरस होती है और या फिर अश्लील। और उसे जिन लड़कों का अनुभव था, वे ऐसे थे जिनका पालन-पोषण बड़े परम्परानिष्ठ ढंग से हुआ था। सेक्स को रहस्य बना दिया जाता है, इस कारण बच्चों के मन में उसके प्रति स्वाभाविक जिज्ञासा बहुत बढ़ जाती है। यदि वयस्क व्यक्ति सेक्स को अन्य विषयों के समान ही समझें और बच्चे के सभी प्रश्नों का उत्तर दें तथा जितनी जानकारी वह

चाहता हो या समझ सकता हो उसे दें, तो बच्चे के मन में अश्लीलता की भावना कभी उत्पन्न नहीं होती। क्योंकि यह भावना इस विश्वास पर आधारित है कि कुछ विषयों की तो चर्चा ही नहीं करनी चाहिए। अन्य प्रकार की जिज्ञासा के समान यौन सम्बन्धी जिज्ञासा भी सन्तुष्ट होने के बाद समाप्त हो जाती है। इसलिए बालकों में सेक्स के प्रति मनोग्रस्ति को रोकने का सबसे अच्छा ढंग यह है कि इस सम्बन्ध में वे जो भी पूछें, वह उन्हें बता दिया जाये।

मैं ने जो कुछ कहा है वह अनुमान पर नहीं वरन् अनुभव पर आधारित है। मैंने अपने स्कूल के बच्चों में जो कुछ देखा, मेरे विचार में उस से यह स्पष्ट है कि बच्चों में अश्लीलता इस कारण आती है कि बड़ों में औचित्य की विकृत भावना होती है। मेरे दोनों बच्चों (सात वर्ष का लड़का और पांच वर्षीया लड़की) को यह नहीं सिखाया गया कि सेक्स या मल-मूत्र में कोई विशेष बात है और अब तक वे शिष्टता के विचार से और उस से सम्बद्ध अश्लीलता के विचार के ज्ञान से यथासम्भव बचे रहे हैं। उन्होंने इस विषय में स्वाभाविक और स्वस्थ रुचि दिखाई है कि बच्चे कहां से आते हैं, परन्तु उतनी नहीं जितनी कि इंजनों और रेलों में। और न उन में यह रुझान है कि वयस्क लोगों के सामने या उनकी अनुपस्थिति में ऐसे विषयों की चर्चा करते रहें। स्कूल में अन्य बच्चों के सम्बन्ध में हम ने देखा है कि यदि वे दो या तीन या चार वर्ष की आयु में भी स्कूल में आए तो उन का विकास बिल्कुल हमारे बच्चों के समान हुआ। परन्तु जो बच्चे ६ या ७ वर्ष की आयु में स्कूल में आए, उन्हें पहले से ही यह शिक्षा मिल चुकी थी कि जननेन्द्रियों के सम्बन्ध में प्रत्येक बात अनुचित समझनी चाहिए। उन्हें यह देख कर आश्चर्य हुआ कि स्कूल में इन विषयों की बात बिल्कुल उसी ढंग में की जाती थी जिस में कि अन्य बातें। कुछ समय तक तो इस बातचीत में, जिसे वे अश्लील समझते थे, उन्हें अनुतोष का अनुभव हुआ परन्तु जब उन्होंने देखा कि वयस्क व्यक्ति उनकी इस बातचीत को रोकने का कोई प्रयत्न नहीं करते तो वे धीरे-धीरे इसके आदी हो गए। और उन के हृदय भी उतने ही शुद्ध हो गए जितने कि उन बच्चों के थे जिन्हें शिष्टता कभी सिखाई ही नहीं गई थी। स्कूल में आए नए बच्चे जब ऐसी बातचीत करने की चेष्टा करते हैं जिसे वे अनुचित

समझते हैं, तो वे ऊब जाते हैं। जब इस प्रकार इस विषय को उन्मुक्त वातावरण में रखा गया तो इस के हानिकर कीटाणु मर गए जो कि इसे अंधकार में रखने कारण फैल रहे थे। मेरा विचार है कि और किसी भी पद्धति से साधारणतया अनुचित माने जाने वाले विषयों के प्रति बच्चों के किसी समूह का दृष्टिकोण इतना स्वस्थ और शिष्ट नहीं बनाया जा सकता।

मेरा विचार है कि इस प्रश्न का एक और पहलू है जिसे वे लोग भली-भाँति समझ नहीं पाए जो कि ईसाई नैतिकतावादियों द्वारा गन्दगी से आच्छादित विषय—सेक्स—को शुद्ध करना चाहते हैं। प्रकृति ने सेक्स के विषय का सम्बन्ध मल-मूत्र-क्रिया से जोड़ दिया है और जब तक उस प्रक्रिया को जुगुप्सा की दृष्टि से देखा जायगा, तब तक मनोविज्ञान की दृष्टि से यह स्वाभाविक ही है कि इस जुगुप्सा का कुछ अंश सेक्स के साथ भी लगा रहेगा। इसलिए यह आवश्यक है कि बच्चों से बात करते समय मल-मूत्र प्रक्रिया के सम्बन्ध में अधिक नाक-भौं नहीं सिकोड़नी चाहिए। स्वच्छता की दृष्टि से कुछ पूर्व-सावधानी आवश्यक तो हैं, परन्तु जब बच्चे समझने लायक हों, तो उन्हें यह बता देना चाहिए कि इन पूर्व-सावधानियों का कारण केवल स्वच्छता है और यह नहीं है कि इन स्वाभाविक क्रियाओं में कोई जुगुप्सापूर्ण बात निहित है।

मैं इस अध्याय में इस बात पर विचार नहीं कर रहा कि सेक्स-सम्बन्धी आचरण कैसा होना चाहिए, बल्कि यह बता रहा हूँ कि सेक्स-ज्ञान के सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण क्या होना चाहिए। मुझे आशा और विश्वास है कि बालकों को सेक्स का ज्ञान देने के सम्बम्ध में मैंने जो कुछ कहा है उससे सभी आधुनिक शिक्षक अवश्य सहमत होंगे। लेकिन अब मैं ऐसे विषय पर आता हूँ जो अधिक विवाद-ग्रस्त है और मुझे आशंका है कि इस सम्बन्ध में पाठक की सहानुभूति प्राप्त करना कठिन होगा। यह विषय उस साहित्य के बारे में है जिसे अश्लील साहित्य कहा जाता है।

इंगलैण्ड और अमेरिका, दोनों में कानून के अनुसार उस साहित्य को जिसे अश्लील माना जाता है, अधिकारी कुछ परिस्थितियों में नष्ट कर सकते हैं और उसके लेखक तथा प्रकाशक को दण्ड दिया जा सकता है। इंगलैण्ड में जिस कानून

के अन्तर्गत यह कार्यवाही की जा सकती है, वह है लॉर्ड कैम्पबैल्स एक्ट ऑफ़ १८५७। इस एक्ट में कहा गया है:

> यदि शिकायत मिलने पर यह विश्वास करने का कोई कारण हो कि अश्लील पुस्तकें यदि किसी घर में या अन्य स्थान पर बेचने के लिए रखी हुई हैं और यह प्रमाण मिलने पर कि इनमें से कोई वस्तु या वस्तुएँ इस प्रकार के स्थान से बेची या बांटी गयी हैं, तो न्यायाधिकारी, यह विश्वास होने पर कि वस्तुएं इस ढंग की हैं कि उनका प्रकाशन अपराध होगा और उन पर अभियोग चलाना उचित होगा, विशेष वारंट द्वारा यह आज्ञा दे सकते हैं कि इन वस्तुओं को जब्त कर लिया जाये; और यदि उन न्यायाधिकारियों या अन्य न्यायाधिकारियों को, उस मकान में रहने वाले को अपने सामने बुलाने के बाद, यह विश्वास हो जाये कि वे वस्तुएं उसी प्रकार की हैं जैसी कि वारंट में बताई गयी हैं और उसी प्रयोजन के लिए रखी गई हैं तो वे उन्हें नष्ट करने की आज्ञा दे सकते है।[1]

इस एक्ट में "अश्लील" शब्द का प्रयोग किया गया है परन्तु कानून में उस शब्द की कोई ठीक-ठीक परिभाषा नहीं की गई है। व्यवहार में ऐसा होता है कि यदि मजिस्ट्रेट किसी प्रकाशन को अश्लील समझता है तो कानून की दृष्टि में उसे अश्लील माना जाता है, और उस पर ऐसा कोई दबाव नहीं कि वह विशेषज्ञों का कोई ऐसा साक्ष्य सुने ही सुने, जिससे यह प्रकट किया जा सकता हो कि जिस सामग्री को अश्लील माना जा सकता है, उसका इस सम्बन्धित प्रकाशन में होना किसी अच्छे प्रयोजन के लिए है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि कोई व्यक्ति कोई उपन्यास, या समाजशास्त्र सम्बन्धी ग्रंथ लिखे या सेक्स-सम्बन्धी विषयों के बारे में कानून के सुधार के लिए सुझाव दे और उसे पढ़ कर कोई अज्ञानी वयोवृद्ध उसे बुरा समझें तो उसकी पुस्तक के नष्ट किए जाने का डर रहता है। इस कानून के परिणाम अत्यन्त हानिजनक हैं। जैसा कि सभी जानते हैं, इसी कानून के अन्तर्गत, हैवलॉक एलिस के ग्रंथ **स्टडीज़ इन द साकइॉलॉजी ऑफ़ सेक्स** के पहले खण्ड को बुरा माना गया, हालांकि, सौभाग्यवश अमेरिका में इस

---

१. देखिये डेरमंड मेकार्थी का उत्तम तर्क-वितर्क जो 'लाइफ़ एण्ड लेटर्स' के मई, १९२९ संस्करण में "अश्लीलता और कानन" शीर्षक लेख में मिलता है।

के प्रति अधिक उदारता दिखाई गयी।[1] मेरा विचार है कि कोई यह नहीं कह सकता कि हैवलॉक एलिस का प्रयोजन अनैतिक था और यह बात अत्यन्त असम्भाव्य है कि इस प्रकार के मोटे, विद्वत्तापूर्ण और गम्भीर ग्रंथ को उन लोगों ने पढ़ा होगा जो केवल अश्लीलता के वर्णन से रोमांचित होना चाहते हों। निस्सन्देह यह तो असम्भव है कि इस विषय का प्रतिपादन उन विषयों का उल्लेख किए बिना हो सके जिनकी चर्चा कोई साधारण मजिस्ट्रेट अपनी पत्नी या पुत्रियों के सामने नहीं कर सकता; परन्तु ऐसी पुस्तक के प्रकाशन का निषेध करने का मतलब तो यह है कि गम्भीर छात्रों को इस क्षेत्र में तथ्य जानने की अनुमति नहीं होगी। मैं समझता हूँ कि परम्परानिष्ठ दृष्टिकोण से हैवलॉक एलिस के ग्रंथ में सबसे अधिक आपत्तिजनक बात यह है कि उसने व्यक्तियों के ऐसे वृत्त-इतिहास इकट्ठे किए हैं जिनसे पता चलता है कि वर्तमान पद्धतियां सदाचार या मानसिक स्वास्थ्य बनाने में कितने असाधारण रूप से असफल हुई हैं। इस प्रकार के लेखों से सेक्स-शिक्षा के वर्त्तमान उपायों के सम्बन्ध में तर्कसंगत राय बनाने के लिए सामग्री मिलती है। कानून यह कहता है कि हमें इस प्रकार की सामग्री प्राप्त करने की अनुमति नहीं दी जा सकती और यह कि इस क्षेत्र में हमारी राय अज्ञानता पर ही आधारित रहेगी।

वैल ऑफ़ लोन्लीनैस को कानून ने बुरा माना, जिससे सेंसर-नीति का एक और पहलू प्रकाश में आया है, और वह यह कि गल्प-साहित्य में सवर्गीय व्यभिचार का उल्लेख भी अवैध है। इंगलैण्ड को छोड़ योरुप के सभी देशों में जहाँ कानून ज्ञान के प्रकाश का कम विरोधी है, छात्रों ने सवर्गीय व्यभिचार के सम्बन्ध में बड़ा वृहत् ज्ञान प्राप्त किया है, परन्तु इंगलैंड में विद्वत्तापूर्ण ग्रंथों या गल्पसाहित्य के रूप में इस ज्ञान के प्रकाशन की अनुमति नहीं है। इंगलैंड में पुरुषों में समलिंग-काम्य अवैध है पर स्त्रियों में नहीं। और इस कानून में परिवर्तन का कोई ऐसा तर्क रखना कठिन होगा जो कि अश्लीलता के आधार पर अवैध न ठहराया जा सकता हो। लेकिन जिस व्यक्ति ने भी इस विषय के अध्ययन का

---

१. पहले खण्ड पर मुकदमा चलने के कारण बाद के खण्ड इंगलैण्ड में प्रकाशित ही नहीं किए गए।

कष्ट किया है, वह जानता है कि यह कानून असभ्य और अज्ञानपूर्ण अंधविश्वास पर आधारित है, जिसके पक्ष में कोई भी तर्कसंगत दलील नहीं दी जा सकती। अगम्यागमन के सम्बन्ध में भी यही बातें लागू होती हैं। कुछ वर्ष पहले एक नया कानून पास किया गया जिसके द्वारा कुछ विशेष प्रकार का अगम्यागमन अपराध माना जाता है। परन्तु इस कानून के पक्ष में या इसके विरुद्ध तर्क देना लॉर्ड कैम्पबैल्स एक्ट के अन्तर्गत अवैध था और है। हां, यह बात दूसरी है कि तर्क ऐसे अमूर्त्त या निरपेक्ष ढंग का हो और इतनी सावधानी से रखा जाये कि उसका कुछ प्रभाव ही न हो।

लॉर्ड कैम्पबैल्स के एक्ट का एक और दिलचस्प परिणाम यह है कि बहुत से विषयों की चर्चा ऐसे बड़े-बड़े पारिभाषिक शब्दों में तो की जा सकती हैं जिन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति ही समझ सकते हैं, परन्तु उनका उल्लेख किसी ऐसी भाषा में नहीं किया जा सकता जिसे जनसाधारण समझ सकते हों। कुछ सावधानी बरत कर मैथुन की बाबत छाप तो सकते हैं परन्तु इसका एक आसान पर्यायवाची शब्द को इस्तेमाल करने की इजाज़त नहीं। यह निर्णय हाल ही में **स्लीवलैस एरेंड** नामक पुस्तक के मामले में किया गया है। कई बार सरल भाषा का प्रयोग करने के सम्बन्ध में इस निषेध के गम्भीर परिणाम होते हैं। उदाहरण के लिए, सन्तति-निरोध पर मिसेज सेंगर के पैम्फ़लैट को जो उन्होंने स्वयं आजीविका कमाने वाली महिलाओं को सम्बोधित करके लिखा है, इस आधार पर अश्लील घोषित किया गया है कि वे महिलाएं उसे समझ जायेंगी। परन्तु दूसरी ओर डॉक्टर मेरी स्टोप्स की पुस्तकें अवैध नहीं हैं क्योंकि उनकी भाषा वही लोग समझ सकते हैं जिन्होंने कुछ शिक्षा प्राप्त की है। परिणाम यह हुआ हैं कि खाते-पीते लोगों को सन्तति-निरोध सिखाने की अनुमति तो है लेकिन स्वयं आजीविका कमाने वालों और उनकी पत्नियों को इसकी शिक्षा देना अपराध है। मैं **यूजेनिक सोसाइटी** का ध्यान इस बात की ओर दिलाना चाहता हूँ क्योंकि वह सदा इस बात का रोना तो रोती रहती है कि मज़दूरों के मध्य वर्ग के लोगों की अपेक्षा सन्तान अधिक होती है, लेकिन इस बात का कोई प्रयत्न नहीं करती कि इस कानून को बदला जाये जो इस मामले की जड़ है।

बहुत से लोग इस बात से तो सहमत होंगे कि अश्लील प्रकाशनों के विरुद्ध कानून के ये परिणाम खेदजनक हैं परन्तु फिर भी उनका मत होगा कि इस तरह का कानून आवश्यक है। मेरा अपना विचार यह है कि अश्लीलता के विरुद्ध कोई भी ऐसा कानून बनाना सम्भव नहीं है जिसके ये अवांछनीय परिणाम न हों और इस बात को ध्यान में रखते हुए मैं तो यह कहूँगा कि इस विषय पर कोई कानून ही न हो तो अच्छा है। इस विचार की पुष्टि के लिए दो तर्क दिए जा सकते हैं : एक ओर तो यह बात है कि कोई भी कानून किसी बुरी बात के निषेध के लिए बनाया जाये तो वह अच्छी बातों का निषेध किए बिना बुरी बातों को नहीं दबा सकता और दूसरी ओर यह तर्क है कि यदि सेक्स-शिक्षा तर्कसंगत हो तो उन प्रकाशनों से बहुत कम हानि होगी जो निस्सन्देह और नग्न रूप से कामोत्तेजक हैं।

जहां तक इनमें से पहले तर्क का सम्बन्ध है, यह इंगलैण्ड में लॉर्ड कैम्पबैल के एक्ट के प्रयोग के इतिहास से पूर्णतया स्पष्ट है। लॉर्ड कैम्पबैल के एक्ट पर हुए वाद-विवाद को पढ़ने से पता चलता है कि इसका एकमात्र उद्देश्य अश्लील साहित्य का उन्मूलन करना था और उस समय यह समझा जाता था कि इस का मसौदा ऐसे ढंग से तैयार किया गया है कि यह किसी और प्रकार के साहित्य के विरुद्ध इस्तेमाल हो ही नहीं सकता। परन्तु यह विश्वास इसलिए था कि उस समय पुलिस वालों की चतुराई और मजिस्ट्रेटों की मूर्खता का भली भाँति अनुमान नहीं लगाया गया था। मौरिस एर्नस्ट और विलियम सीगल ने अपनी पुस्तक में सेंसर-प्रणाली विषयक सांगोपांग वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया है।[1] उन्होंने ब्रिटेन और अमेरिका के अनुभव का उल्लेख किया है और संक्षिप्त रूप से अन्य स्थानों पर जो कुछ किया गया है उस की भी चर्चा की गई है। अनुभव से, विशेषकर ब्रिटेन में नाटकों के सेंसर के अनुभव से, पता चलता है कि जिन सार-रहित नाटकों का उद्देश्य वासना को भड़काना होता है, वे आसानी से पास हो जाते हैं क्योंकि सेंसर यह नहीं चाहता कि लोग उसे परोपदेशक समझ बैठें। परन्तु जिन गम्भीर नाटकों में मूल समस्याओं को उठाया

१. टु द प्योर, वाइकिंग प्रेस, १९२८।

गया है। उदाहरण के लिए, **मिसेज़ वारेन्स प्रोफ़ेशन** को ले लीजिए, उन्हें पास होने में कई वर्ष लग जाते हैं और **द सेन्सी** जैसे काव्यमय अमर नाटक को, जिस में एक भी शब्द ऐसा नहीं है जिससे सेन्ट एन्थोनी जैसे महान् सन्त में भी वासना जागे, परन्तु लॉर्ड चैम्बरलेन (रनिवास के प्रमुख अधिकारी) के मन में उत्पन्न होने वाली जुगुप्सा पर विजय प्राप्त करने में पूरी एक शताब्दी लग गयी। इसलिए ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि सेंसर का प्रयोग कलात्मक या वैज्ञानिक कृतियों के विरुद्ध किया जायेगा। परन्तु जिन व्यक्तियों का उद्देश्य कामोद्दीपन मात्र है वे कानून के फंदे से बच निकलने का कोई न कोई रास्ता निकाल ही लेंगे।

परन्तु सेंसर पर आपत्ति करने का एक और आधार भी है और वह यह है कि यदि नंगा कामोत्तेजक साहित्य स्पष्ट रूप में सामने आए और बिना लज्जा के उसे सब के आगे रख दिया जाये तो उससे उतनी हानि नहीं होती जितनी कि इस बात से कि इसे चोरी-छिपे छापा जाता है, जिसके कारण वह और अधिक दिलचस्पी का विषय बन जाता है। कानून के होते हुए भी, लगभग प्रत्येक धनाढ्य व्यक्ति ने किशोरावस्था में अश्लील चित्र अवश्य देखे हैं और उसे इस बात का गर्व है कि उसके पास ऐसे चित्र हैं जो उसने केवल इसलिए इकट्ठे किये हैं कि उन्हें प्राप्त करना कठिन था। परम्परानिष्ठ पुरुषों का विचार है कि ये वस्तुएं दूसरों के लिए अत्यन्त हानिकर हैं, परन्तु उन में से बिरला ही कोई होगा जो यह स्वीकार करे कि उसे भी इन वस्तुओं ने हानि पहुँचाई है। इसमें सन्देह नहीं कि इनसे अस्थायी वासनामूलक भावाएं उत्पन्न होती हैं परन्तु किसी भी समर्थ वीर्यवान् पुरुष में यह भावना यदि एक तरह से उत्पन्न नहीं होगी तो दूसरी तरह से उत्पन्न होगी। पुरुष में वासना कितनी जल्दी-जल्दी उत्पन्न होती है, यह उसकी शारीरिक दशा पर निर्भर है। परन्तु जिन अवसरों के कारण यह भावना जागती है उनका आधार वे सामाजिक परम्पराएं हैं जिन की उसे आदत पड़ चुकी हो। विक्टोरिया युग के प्रारम्भ में किसी स्त्री के टखने देखना ही पुरुष के लिए पर्याप्त उद्दीपन था। किन्तु आधुनिक युग में जंघाओं तक देखे बिना पुरुष पर कुछ असर ही नहीं होता। यह तो कपड़े

पहनने के फ़ेशन का प्रश्न मात्र है। यदि नंगे रहने का फ़ेशन चल जाये तो इस से हमारी वासना नहीं जागेगी और स्त्रियों को विवश होकर, जैसा कि कुछ असभ्य जातियों में होता है, सेक्स की दृष्टि से अपने को आकर्षक बनाने के लिए कपड़े पहनने ही पड़ेंगे। साहित्य और चित्रों पर भी बिल्कुल वैसी ही बात लागू होती है। विक्टोरिया युग में जिसे उकसाने वाली बात समझा जाता था, वही और स्पष्टवादी युग के पुरुषों के लिए बिल्कुल निष्फल होगी। उचित-अनुचित का बहुत ज़्यादा ध्यान रखने वाले लोग इस बात पर जितने अधिक बन्धन लगाएंगे, कि सेक्स-आकर्षण की मात्रा कितनी हो इस आकर्षण को प्रभावी बनाने के लिए उतने ही कम प्रयत्नों की आवश्यकता पड़ेगी। कामोत्तेजक साहित्य का नब्बे प्रतिशत आकर्षण उन कुरुचिपूर्ण भावनाओं के कारण है जिन्हें नैतिकतावादी बच्चों के मन में भर देते हैं; बाकी दस प्रतिशत आकर्षण शारीरिक क्रिया से सम्बन्धित है और यह शारीरिक आकर्षण किसी-न-किसी रूप में होगा ही; कानून चाहे जैसा हो। इन कारणों से, यद्यपि मुझे आशंका है कि बहुत कम लोग मुझ से सहमत होंगे, मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि अश्लील प्रकाशनों के विषय पर कोई भी कानून नहीं होना चाहिए।

नग्नता के विरुद्ध रूढ़-निषेध सेक्स के विषय में शिष्ट दृष्टिकोण के रास्ते में एक बाधा है। जहां तक छोटे बच्चों का सम्बन्ध है, इस बात को बहुत-से व्यक्ति स्वीकार करते हैं कि बच्चों के लिए यह अच्छा है कि जब भी स्वाभाविक दशा में सम्भव हो, वे एक दूसरे को और अपने माता-पिता को नग्नावस्था में देखें। कुछ थोड़ा समय तो ऐसा होता है—सम्भवतः तीन वर्ष की आयु में—जब बच्चे को अपने पिता और अपनी माता के बीच जो अन्तर है उस में रुचि रहती है, और वह इस अन्तर की अपने और अपनी बहिन के बीच अन्तर से तुलना करता है। परन्तु यह काल जल्दी ही बीत जाता है और इस के बाद उसे नग्नता में उतनी ही रुचि रह जाती है जितनी कि कपड़ों में होती है। जब तक माता-पिता यह चाहते हैं कि उनके बच्चे कहीं उन्हें नग्नावस्था में न देख लें, तब तक बच्चों के मन में यह भावना रहेगी कि कोई न कोई रहस्य अवश्य है और इसी भावना के कारण उनके मन में विकारपूर्ण जिज्ञासा बनी रहेगी और वे अभद्र हो जायेंगे।

अभद्रता को रोकने का सिर्फ एक ही ढंग है और वह यह कि रहस्यमता को पास ही न फटकने दिया जाये।

समुचित परिस्थितियों में नंगे रहने के पक्ष में, स्वास्थ्य की दृष्टि से, कई महत्त्वपूर्ण आधार हैं, जैसे कि धूप में बाहर घूमना। नंगी चमड़ी पर धूप का बड़ा स्वास्थ्यप्रद प्रभाव पड़ता है। इस के अतिरिक्त यदि किसी ने बच्चों को नंगे खुली हवा में भागते-दौड़ते देखा है तो उसे यह बात अवश्य दिखी होगी कि वे उसी दशा में, कपड़े पहने होने की अपेक्षा अधिक सुचारु रूप से, स्वच्छंदता से और शोभा से विचरण करते हैं। यही बात युवा लोगों पर भी लागू होती है। नंगे रहने का समुचित स्थान घर से बाहर धूप और पानी में है। यदि हमारे रिवाज नंगे रहने की इजाजत दे दें तो उस में कोई सेक्स-आकर्षण नहीं रहेगा। हम अच्छी तरह तन कर चलेंगे, चमड़ी हवा और धूप के प्रभाव से अधिक स्वस्थ होगी और हमारी सौन्दर्य की कसौटी, स्वास्थ्य की कसौटी से अधिक मेल खाएगी क्योंकि उसका सम्बन्ध केवल चेहरे से नहीं बल्कि शरीर और उसकी चाल-ढाल से होगा। इस सम्बन्ध में यूनानियों का व्यवहार सचमुच प्रशंसनीय था।

मानव जीवन में प्रेम का स्थान

यह बड़ी अद्भुत बात है कि अधिकतर समुदायों में प्रेम के सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण प्रचलित है, उस के दो पहलू हैं : एक ओर तो काव्य, उपन्यासों और नाटकों का मुख्य विषय प्रेम ही है और दूसरी ओर, अधिकतर गम्भीर समाज-शास्त्री इस की सर्वथा उपेक्षा कर देते हैं और आर्थिक या राजनीतिक सुधार की परियोजनाओं में इसे आवश्यक अंग नहीं समझा जाता। मेरे विचार में यह दृष्टि-कोण उचित नहीं है। मैं समझता हूँ कि प्रेम जीवन की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बातों में से है और मेरे विचार में ऐसी प्रत्येक प्रणाली बुरी है, जिस में इस के स्वतंत्र विकास में अनावश्यक रूप से बाधा डाली जाती हो।

प्रेम शब्द का प्रयोग उचित ढंग से किया जाये तो उस का संकेत स्त्री-पुरुषों के किसी एक या प्रत्येक सम्बन्ध की ओर नहीं होता, बल्कि उस से ऐसा सम्बन्ध उपलक्षित होता है, जिस में भावना प्रचुर मात्रा में सन्निहित रहती है। यह ऐसा सम्बन्ध है जो मानसिक भी है और शारीरिक भी। इस की तीव्रता किसी भी सीमा तक हो सकती है। जिन भावों की अभिव्यक्ति **ट्रिस्टन एंड आइसोल्ड** में की गयी है वे अनगिनत स्त्री-पुरुषों के अनुभव के अनुकूल हैं। प्रेम के भावों को कलात्मक अभिव्यक्ति देने की शक्ति दुर्लभ है। परन्तु यह भाव कम-से-कम योरुप में तो दुर्लभ नहीं है। यह कुछ समाजों में अन्य समाजों की अपेक्षा अधिक सामान्य होता है। और मेरा विचार है कि यह लोगों के स्वभाव पर नहीं बल्कि उन की परम्पराओं और प्रथाओं पर निर्भर करता है। चीन में इस के उदाहरण विरले ही मिलेंगे। और उस के इतिहास में प्रेम बुरे सम्राटों की विशेषता के के रूप में देखने को मिलता है जो अपनी कुटनी रखैलों के कारण पथभ्रष्ट हो

गए। चीन की पारम्परिक संस्कृति में सभी तीव्र भावों पर आपत्ति की जाती थी। यह समझा जाता था कि मनुष्य को प्रत्येक परिस्थिति में विवेक का प्रभुत्व बनाए रखना चाहिए। इस बात में यह संस्कृति अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से मिलती-जुलती है। हम लोग जो रोमेंटिक आन्दोलन, फ्रांस की क्रान्ति और महायुद्ध देख चुके हैं, भली-भांति जानते हैं कि मानव-जीवन में विवेक का स्थान उतना अधिक होने की आशा नहीं की जाती जितना कि रानी एन के युग में की जाती थी। और स्वयं विवेक ने भी मनोविश्लेषण की प्रणाली का प्रतिपादन कर के अपने ही साथ विश्वासघात किया है। आधुनिक जीवन में विवेक के क्षेत्र से बाहर के तीन मुख्य कृत्य हैं: धर्म, युद्ध और प्रेम। ये सभी विवेक के क्षेत्र से बाहर की चीजें हैं। परन्तु प्रेम विवेक के विरुद्ध नहीं है, या ऐसे कह लीजिए कि प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति इस के अस्तित्व से समुचित आनन्द प्राप्त कर सकता है। कुछ कारणों से, जिन पर हम पिछले अध्यायों में विचार कर चुके हैं, आधुनिक संसार में धर्म और प्रेम के बीच परस्पर एक विरोध की एक भावना है। मैं नहीं समझता कि यह विरोध अनिवार्य है। इस का कारण केवल यह तथ्य है कि कुछ अन्य धर्मों के विपरीत ईसाई धर्म की जड़ें संयम में हैं।

परन्तु आधुनिक संसार में प्रेम का एक और शत्रु है, जो धर्म से भी बढ़ कर खतरनाक है। वह है काम और आर्थिक सफलता, जिन्हें वेद-वाक्य माना जाता है। साधारणतया यह धारणा रहती है—विशेषकर अमेरिका में—कि पुरुष को अपने कृतत्व में प्रेम को बाधक नहीं बनने देना चाहिए और यदि वह ऐसा करता है तो मूर्ख है। परन्तु अन्य मानवीय मामलों के समान इस में भी सन्तुलन आवश्यक है। प्रेम के लिए कृतत्व का सर्वथा परित्याग मूर्खता होगी, यद्यपि कुछ दशाओं में यह खेदजनक वीरता भी हो सकती है। परन्तु कृतत्व के लिए प्रेम का सर्वथा त्याग उतना ही मूर्खतापूर्ण है; हां, उस में वीरता का लेशमात्र अंश नहीं है। परन्तु फिर भी, धनोपार्जन की होड़ पर आधारित समाज में यह बात होती है और अनिवार्य रूप से होती है। आज के युग के—विशेषतया अमेरिका के—किसी प्रतिनिधि व्यापारी का जीवन देखिए: बड़ा होने के बाद से ही वह पूरी मानसिक और शारीरिक शक्ति से आर्थिक सफलता की प्राप्ति में जुट जाता

है; उस के लिए अन्य सभी कुछ महत्वहीन आमोद है। युवावस्था में वह समय-समय पर अपनी शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति वेश्याओं से कर लेता है। उस के बाद वह विवाह कर लेता है। परन्तु उसकी रुचि अपनी पत्नी की रुचि से सर्वथा भिन्न होती है और वह उस के साथ कभी अंतरंग नहीं हो पाता। वह दफ़्तर से देर से घर आता है और उस समय थका हुआ होता है। सवेरे अपनी पत्नी के जागने से पहले उठ जाता है। इतवार का दिन गॉल्फ़ खेलने में बिता देता है, क्योंकि धनोपार्जन के संघर्ष के लिए शारीरिक व्यायाम करके अपने को स्वस्थ रखना उस के लिए आवश्यक होता है। उस की पत्नी को जिन बातों में रुचि होती है, उन्हें वह केवल स्त्री-सुलभ रुचि ही समझता है और उन्हें अच्छा भले ही मानता हो, उन में भाग लेने का प्रयत्न नहीं करता। न तो उसे पत्नी से प्रेम के लिए समय मिलता है और न ही किसी परस्त्री से प्रेम का! हां, यह बात और है कि वह कार्यवश घर से दूर गया हुआ हो तो किसी वेश्या के पास भले ही चला जाये। उस की पत्नी सम्भवतः सेक्स की दृष्टि से उसके प्रति उत्साह नहीं दिखाती, जिस में आश्चर्य की बात भी कोई नहीं है क्योंकि उसे अपनी पत्नी को रिझाने का समय ही कहाँ मिलता है! उसके अर्धचेतन मन में असन्तोष रहता है, लेकिन उसे पता नहीं होता कि यह असन्तोष क्यों है। वह अपने असन्तोष को मुख्यतया काम में डुबा देना चाहता है या मुक्केबाज़ी के खेल देख कर अथवा उग्रतावादियों को तंग कर के दूसरों को पीड़ा पहुँचा कर आनन्द-लाभ का सुख अनुभव करता है। उस की पत्नी, जो कि उसी के समान असन्तुष्ट होती है—घटिया प्रकार की संस्कृति में और उदार तथा स्वतंत्र जीवन वाले लोगों को तंग कर के सदाचार को बनाये रखने में सन्तोष का अनुभव करती है। इस प्रकार पति तथा पत्नी दोनों में सेक्स-सम्बन्धी सन्तोष का अभाव मानवता के प्रति घृणा में बदल जाता है। परन्तु यह घृणा लोकहित की भावना और उच्च नैतिक मानक का छद्म वेश धारण किये रहती है। यह खेदजनक स्थिति मुख्यतया इस कारण है कि सेक्स-सम्बन्धी आवश्यकताओं के बारे में हमारी धारणा ग़लत होती है। स्पष्ट है कि सेन्ट पॉल का विचार था कि विवाह में केवल इस बात की आवश्यकता होती है कि मैथुन का अवसर प्राप्त हो और

कुल मिला कर ईसाई नैतिकतावादियों की शिक्षा के कारण इस विचार को प्रोत्साहन मिला है। सेक्स के प्रति विरक्ति ने इन्हें सेक्स-जीवन के उदात्त पहलुओं के प्रति उपेक्षाशील बना दिया है और इस का परिणाम यह हुआ है कि जिन लोगों ने बचपन में इन से शिक्षा ग्रहण की है, उन्हें अपनी उत्तम क्षमताओं का ज्ञान ही नहीं हुआ। प्रेम मैथुन की इच्छा से कहीं अधिक है। यह उस अकेलेपन से बचने का मुख्य उपाय है, जिस से अधिकतर स्त्री-पुरुष अपने जीवन के अधिकांश भाग में पीड़ित रहते हैं। अधिकतर लोगों के मन में स्नेह-रहित संसार और समूह की संभाव्य नृशंसता का डर रहता है; स्नेह की आकांक्षा रहती है जिसे पुरुष रुखाई, असभ्यता या शण्ठता के प्रयोग से छिपाते हैं और स्त्रियां दूसरों को निरन्तर डांटते रह कर तथा भर्त्सना के द्वारा छिपा लेती हैं। जब तक परस्पर तीव्र प्रेम रहता है, इस भावना को दबाए रखता है। यह अहं की कठोर प्राचीरों को गिरा देता है और दो आत्माएं मिल कर एक में समाविष्ट हो जाती हैं। प्रकृति ने मानव को अकेले रहने के लिए नहीं बनाया क्योंकि वह दूसरे की सहायता लिए बिना प्रकृति के जैविकीय प्रयोजन को पूरा नहीं कर सकता; और सभ्य लोग बिना प्रेम के अपनी सेक्स वृत्ति को पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं कर सकते। यह सहजवृत्ति तब तक पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं होती जब तक कि मानव मन और शरीर से पूर्णतया इस सम्बन्ध में तादात्म्य नहीं हो जाता। जिन लोगों ने पारस्परिक सुखमय प्रेम की घनिष्टता और निकट साहचर्य का कभी अनुभव नहीं किया, वे जीवन के सर्वोत्तम पदार्थ से वंचित रहे हैं। सचेत मन से नहीं तो अचेत मन से वे इस अभाव का अनुभव करते हैं और इसके परिणाम स्वरूप जो निराशा होती है, वह उन्हें ईर्ष्या, दमन और क्रूरता की ओर झुका देती है। इसलिए उत्कट प्रेम को उस के समुचित स्थान पर प्रतिष्ठापित करने का काम समाजशास्त्री का है, क्योंकि यदि स्त्री-पुरुष इस सुख की अनुभूति से वंचित रहते हैं तो उन का पूर्णतम विकास नहीं होगा और वे संसार के प्रति उस उदारतापूर्ण स्नेह की अनुभूति नहीं कर पाएंगे जिस के बिना उस की सामाजिक कार्यवाहियों का हानिजनक होना निश्चित है।

समुचित परिस्थितियों में अधिकतर स्त्री-पुरुष अपने जीवन में कभी न

कभी उत्कट प्रेम का अनुभव करते हैं। परन्तु अनुभवहीन व्यक्तियों के लिए कोरे आकर्षण और उत्कट प्रेम के बीच भेद करना बड़ा कठिन है। यह बात विशेषतया उन लड़कियों पर लागू होती है जिनका लालन-पालन सुचारु रूप से हुआ हो और जिन्हें यह सिखाया गया हो कि वे किसी पुरुष का चुम्बन तब तक नहीं कर सकतीं जब तक कि उन्हें उससे प्यार न हो जाये। यदि आप यह आशा करते हैं कि विवाह के समय कन्या अक्षत-योनि हो, तो बहुधा ऐसा होगा कि वह अस्थायी और क्षुद्र सेक्स-आकर्षण के जाल में फंस जायेगी। सेक्स के सम्बन्ध में अनुभवी स्त्री प्रेम और ऐसे आकर्षण में अवश्य भेद कर सकती है। इसमें सन्देह नहीं कि विवाह के सुखी न होने का कारण बहुधा यही होता है। जहाँ पति-पत्नी में परस्पर प्रेम हो भी तो उन दोनों में से किसी एक के इस विश्वास के कारण कि इसमें पाप है, प्रेम विषाक्त हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ दशाओं में यह विश्वास ठीक हो सकता है। उदाहरण के लिए, पार्नेल ने पर स्त्री-गमन करके निस्सन्देह पाप किया क्योंकि उसके कारण आयरलैंड की आशाओं का फलीभूत होना कई वर्ष के लिए स्थगित हो गया। लेकिन जहाँ पाप की भावना निराधार हो, वहां भी यह प्रेम को उतना ही विषाक्त कर देती है। प्रेम में सारी सम्भाव्य अच्छाइयों के उजागर होने के लिए आवश्यक है कि प्रेम स्वाधीन, उदार, बन्धनहीन और सच्चे दिल से हो।

पारम्परिक शिक्षा के कारण पाप की भावना प्रेम से सम्बद्ध है। पति-पत्नी के परस्पर प्रेम के साथ भी यही भावना लग जाती है। स्त्रियों में और पुरुषों में समान रूप से यह भावना अर्धचेतन मन में रहती है। यह भावना उनमें भी है जिनके मस्तिष्क परम्परा के बन्धनों से मुक्त हो चुके हैं और उनमें भी जो पुरानी परम्परा के भक्त हैं। इस अभिवृत्ति के प्रभाव विभिन्न प्रकार के होते हैं। पुरुष इसके कारण बहुधा प्रेम-क्रिया के प्रति नृशंस, भोंडे और असहानुभूतिशील बन जाते हैं क्योंकि वे इस सम्बन्ध में स्त्री की भावना जानने के लिए—उससे बातचीत करने के लिए अपने को तैयार नहीं कर पाते और न वे प्रेम की अन्तिम क्रिया की ओर क्रमशः बढ़ने के महत्व को समुचित रूप से समझ पाते हैं, जोकि अधिकतर स्त्रियों के सन्तोष के लिए अत्यावश्यक बात है। सच तो यह

है कि वे बहुधा यह समझने में असफल रहते हैं कि स्त्री को आनन्द की अनुभूति होनी चाहिए और यदि उसे यह अनुभूति नहीं होती तो दोष उसके प्रेमी का है। जिन स्त्रियों की शिक्षा परम्परा के अनुसार हुई हो, वे उत्साह के अभाव में ही गर्व का अनुभव करती हैं। वे अपने शारीरिक आवेगों को रोके रहती हैं और शारीरिक घनिष्ठता की आसानी से अनुमति देने में अनिच्छा दिखाती हैं। कोई कुशल प्रणयी सम्भवतः इस प्रकार की भीरुता पर विजय पा सकता है, परन्तु जो व्यक्ति इस भीरुता को सदाचारिणी स्त्री के चिन्ह मान कर उसकी प्रशंसा करता हो, या उसका आदर करता हो, वह सम्भवतः उस पर विजय नहीं पा सकता। परिणाम यह होता है कि विवाह के कई वर्ष बाद भी पति-पत्नी का परस्पर सम्बन्ध अबाध नहीं हो पाता और उसमें औपचारिकता-सी रहती है। हमारे पितामहों के दिनों में पति कभी अपनी पत्नियों को नग्नावस्था में देखने की आशा नहीं कर सकते थे, और यदि उनकी पत्नियों से नग्न होने के लिए कहा जाता तो वे इसे बहुत बुरा मानतीं। यह अभिवृत्ति भी उससे कहीं अधिक प्रचलित है जितनी कि हम समझते हैं, और जो लोग इस अवस्था से आगे निकल चुके हैं उनमें भी पुराना निग्रह बहुत मात्रा में विद्यमान है।

आधुनिक संसार में प्रेम के पूर्ण विकास के रास्ते में एक और गहन मनोवैज्ञानिक बाधा है। वह बहुत से लोगों का यह डर है कि वैयक्तिकता अक्षुण्ण रहे, कहीं वे उसे खो न बैठें। यह डर आधुनिक युग का है और मूर्खतापूर्ण है। वैयक्तिकता अपने आप में एक साध्य नहीं है। यह ऐसी वस्तु है जिसे संसार के साथ कलात्मक सम्पर्क में आना ही पड़ता है और सम्पर्क में आने के बाद उस का अलगाव दूर हो ही जाना चाहिए। जिस वैयक्तिकता को बचाकर और बन्द करके अलग रखा जाता है, उसका ह्रास हो जाता है, परन्तु जो उन्मुक्त भाव से मानवों के सम्पर्क में आती है वह और समृद्ध हो जाती है। व्यक्ति और शेष संसार के बीच फलदायक सम्पर्क के तीन महान स्रोत हैं: प्रेम, बच्चे और काम। इन तीनों में क्रमशः प्रेम साधारणतया पहले होता है। और फिर, माता-पिता के प्रेम के सर्वोत्तम विकास के लिए यह आवश्यक है—क्योंकि बच्चा माँ और बाप दोनों की विशिष्टताओं की नकल करता है और यदि माता और पिता

में परस्पर प्रेम न हो तो उनमें से प्रत्येक बच्चे में अपने गुणों को देखकर सुख का अनुभव करेगा और दूसरे के गुणों को देखकर दुःखी होगा। काम के कारण मनुष्य सदा ही बाहरी संसार के साथ लाभदायक सम्पर्क में नहीं आ पाता। काम के कारण संसार के साथ व्यक्ति का सम्बन्ध लाभदायक होगा या नहीं, यह इस बात पर निर्भर है कि वह किस भावना से किया गया है। जिस काम की प्रेरणा केवल आर्थिक हो, उसमें यह गुण सम्भव नहीं। लेकिन उस काम के फलीभूत होने की आशा है जो किसी प्रकार की निष्ठा से किया जाये—वह निष्ठा व्यक्तियों के प्रति हो, पदार्थों के प्रति या केवल किसी लक्ष्य के प्रति। यदि प्रेम केवल इस भावना से किया जाये कि प्रेम के पात्र को प्राप्त करना ही लक्ष्य है, तो उसका बिल्कुल कोई महत्व नहीं होता। ऐसा प्रेम तो उस काम जैसा है जोकि केवल आर्थिक लाभ की दृष्टि से किया जाता है। हम जिस महत्व की बात कर रहे हैं, प्रेम में उसका समावेश तभी सम्भव है जब कि प्रेमी अपने प्रेम के पात्र के अहं को भी अपने ही अहं के समान महत्वपूर्ण समझे और उसकी भावनाओं और इच्छाओं को अपनी ही भावनाएं या इच्छाएं समझे। दूसरे शब्दों में, अहं की भावना का विस्तार न केवल सचेत मन से बल्कि सहजवृत्तिमूलक होना चाहिए और ऐसा जिसमें दूसरे के अहं को अपने अहं में समाविष्ट कर लिया जाये। हमारे चपल और प्रतिस्पर्धी समाज के कारण यह बात कठिन हो गयी है और इस कठिनाई का कारण व्यक्तित्व-पूजा का मूर्खतापूर्ण विचार भी है जो कुछ तो प्रोटेस्टेंटवाद और कुछ रोमेंटिक आन्दोलन से उत्पन्न हुआ है।

आधुनिक युग के परम्परा के प्रभाव से मुक्त लोगों में प्रेम के लिए, जिस गम्भीर अर्थ में हम प्रेम पर विचार कर रहे हैं, एक नया खतरा पैदा हो गया है। जब लोग प्रत्येक अवसर पर, तनिक आवेग आने पर भी, सम्भोग करने में कोई नैतिक बाधा न देख सकें, तो उनका स्वभाव ऐसा बन जाता है कि वे सेक्स को गम्भीर मनोभाव से पृथक करने लगते हैं और उन्हें इसके साथ स्नेह का कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं पड़ता। सम्भव है कि वे कभी सम्भोग को घृणा की भावना से सम्बद्ध कर दें। इसका सबसे अच्छा दृष्टान्त आल्डस हक्सले के उपन्यासों में मिलता है। उसके पात्र सेन्ट पॉल की तरह मैथुन को शारीरिक

क्रिया मानते हैं और शारीरिक उच्छ्वास का विकास मात्र समझते हैं । ऐसा लगता है कि उन्हें यह ज्ञात नहीं कि इसका सम्बन्ध कितने उदात्त मूल्यों के साथ सम्भव है । आप इस प्रकार की अभिवृत्ति से एक क़दम और आगे बढ़ जायें तो संयम की परिधि में पहुँच जायेंगे । प्रेम के अपने समुचित आदर्श हैं और स्वयं इसमें कुछ नैतिक मानक निहित हैं । ईसाई धर्म की शिक्षा और युवा पीढ़ी के अधिकांश भाग में सेक्स-सम्बन्धी नैतिकता के विरुद्ध उठ रहे अँधाधुँध विद्रोह, दोनों में इन मानकों की उपेक्षा की जाती है । जो मैथुन प्रेम के बिना हो उसके फलस्वरूप सहजवृत्ति का समुचित सन्तोष नहीं हो सकता । मैं यह नहीं कहता कि यह कभी नहीं होना चाहिए क्योंकि इसे रोकने के लिए हमें ऐसे कड़े बन्धन लगाने पड़ेंगे कि प्रेम कठिन हो जायेगा । मैं तो यह कह रहा हूँ कि प्रेम के बिना मैथुन का कोई मूल्य नहीं और मुख्यतः उसे प्रेम के उद्देश्य से किया गया प्रयोग मात्र ही मानना चाहिए ।

जैसा कि हम देख चुके हैं, मानव जीवन में मान्य स्थान प्राप्त करने के सम्बन्ध में प्रेम का दावा बहुत बड़ा है । परन्तु प्रेम व्यवस्था-रहित शक्ति है और यदि उसे अबाध छोड़ दिया जाये तो वह किसी कानून या रिवाज द्वारा निर्धारित परिधि में नहीं रहेगी । जब तक बच्चे नहीं होते, तब तक सम्भव है कि इससे अधिक अन्तर न पड़ता हो, परन्तु बच्चों के होते ही हम दूसरे क्षेत्र में पहुँच जाते हैं जहां प्रेम स्वायत्त नहीं रहता बल्कि जाति के जैविकीय प्रयोजनों को पूरा करता है । बच्चों के सम्बन्ध में कुछ सामाजिक आचार होना ही चाहिए जिसके अनुसार, संघर्ष की दशा में, उत्कट प्रेम के दावे ठुकरा दिए जायें । परन्तु बुद्धिमत्तापूर्ण आचार के कारण यह संघर्ष न्यूनतम हो जायेगा। न केवल इसलिए कि प्रेम अपने आप में अच्छा है बल्कि इसलिए भी कि बच्चों की भलाई इसी में है कि उनके माता-पिता में परस्पर प्रेम हो । बुद्धिमत्तापूर्ण सेक्स-सम्बन्धी आचार का एक मुख्य प्रयोजन यह भी होना चाहिए कि प्रेम में हस्तक्षेप किया जाये उतना ही जितना बच्चों के हित से मेल खाता हो, अधिक नहीं । परन्तु जब तक हम परिवार के बारे में विचार न कर ल, तब तक इस विषय का विवेचन नहीं किया जा सकता ।

विवाह

इस अध्याय में मैं बच्चों की चर्चा किए बिना, सिर्फ स्त्री-पुरुषों के परस्पर सम्बन्ध की दृष्टि से विवाह पर विचार करना चाहता हूँ। निस्सन्देह विवाह अन्य सेक्स-सम्बन्धों से इस कारण भिन्न है कि यह विधिगत संस्था है। अधिकतर समुदायों में यह धार्मिक संस्था भी है, परन्तु इसका सारभूत पहलू तो विधिगत है। यह विधिगत संस्था उस व्यवहार का ही रूप है जो न केवल आदिम लोगों बल्कि बन्दरों और अन्य विभिन्न जीवों में भी पाई जाती है। जहां भी बच्चों के पालन-पोषण के लिए नर की आवश्यकता होती है, वहां पशुओं का परस्पर सम्बन्ध भी विवाह के समान ही होता है। पशुओं के विवाह साधारणतया एक पत्नीत्व प्रणाली के अनुसार होते हैं और कुछ विद्वानों का मत है कि मानव-पूर्व वानरों में यह प्रणाली विशेषतया प्रचलित थी। इन विद्वानों के मतानुसार तो ऐसा लगता है कि इन सौभाग्यशाली पशुओं के सामने वे समस्याएं नहीं हैं जो कि मानव समुदायों के सामने हैं, क्योंकि वानर का विवाह हो जाने पर वह किसी और वानरी के प्रति आकर्षित नहीं होता और विवाह के बाद वानरी का भी आकर्षण किसी वानर के लिए नहीं रहता। इसलिए यद्यपि धर्म मानव-पूर्व वानरों का सहायक नहीं है, परन्तु उनमें पाप होता ही नहीं, क्योंकि सहज-वृत्ति के कारण ही सदाचार रहता है। इस बात का साक्ष्य भी मिलता है कि अव-संस्कृत नस्लों में निम्नतम श्रेणी की जाति में भी ऐसी ही स्थिति थी। कहा जाता है कि आस्ट्रेलिया के आदिवासी भी एक पत्नीत्व में विश्वास रखते हैं और मेरा विश्वास है कि तस्मानिया के आदिवासी भी (जो अब समाप्त हो चुके हैं) सदा पत्नीव्रतधारी रहते थे। सभ्य मानवों में भी कहीं-कहीं एक पत्नीत्व की

वृत्ति के चिन्ह कभी-कभी दिखाई पड़ जाते हैं। आदत का व्यवहार पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे देखते हुए भी यह सम्भवतः आश्चर्य की बात है कि सहजवृत्ति पर एक पत्नीत्व का उतना अधिक प्रभाव नहीं, जितना कि होना चाहिए। परन्तु यह तो मानवों की मानसिक विशेषता का उदाहरण है, जिससे उनके दुर्गुण और प्रज्ञा—दोनों ही उत्पन्न होती है। अर्थात् कल्पना शक्ति के कारण आदतें टूटती हैं और आचरण के नए रास्ते निकलते हैं।

यह बात सम्भाव्य लगती है कि सबसे पहले आदिम जातियों में एक पत्नीत्व-प्रणाली को भंग करने का दायित्व आर्थिक अभिप्रेरणा के हस्तक्षेप पर था। जहां भी सेक्स-सम्बन्धी व्यवहार पर इसकी प्रेरणा का प्रभाव पड़ा है, वह विध्वंसात्मक रहा है, क्योंकि इसके कारण दासता या क्रय का सम्बन्ध सहजवृत्तिमूलक सम्बन्ध का स्थान ले लेता है। सृष्टि के प्रारम्भ में कृषि और पशु-पालन करने वाले समुदायों में पत्नियां और बच्चे आर्थिक परिसम्पत माने जाते थे। पत्नियां पुरुष के लिए काम करती थीं और पांच या छह वर्ष की आयु के बाद बच्चे खेतों में या पशुओं की देख-भाल में उपयोगी सिद्ध होने लगते थे। इस का परिणाम यह होता था कि सबसे अधिक शक्तिशाली व्यक्ति यह चेष्टा करते थे कि उन की अधिकाधिक पत्नियां हों। बहु पत्नीत्व किसी समुदाय में सभी के लिए तो साधारण व्यवहार नहीं हो सकता, क्योंकि साधारणतया स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक नहीं होती। यह परमाधिकार तो कबीले के सरदारों और धनी पुरुषों का ही हो सकता है। बहुत-सी पत्नियां और बच्चे मूल्यवान सम्पत्ति होते थे और उनके पति या पिताओं की विशेष स्थिति उनके कारण और ऊंची हो जाती थी। इस प्रकार पत्नी का प्रमुख प्रयोजन लाभदायक पालतू पशु के समान बन गया और उसका सेक्स-सम्बन्धी प्रयोजन गौण हो गया। सभ्यता के इस दौर में किसी पुरुष के लिए अपनी पत्नी को तलाक़ देना साधारणतया आसान है, यद्यपि उस दशा में उसे वह दहेज पत्नी के परिवार को लौटाना होगा जो कि वह अपने साथ लाई हो। परन्तु साधारणतया किसी पत्नी के लिए अपने पति को तलाक़ देना असम्भव है।

पर स्त्री-गमन के प्रति अधिकतर अर्ध-सभ्य समुदायों का दृष्टिकोण इस दृष्टि-कोण से मेल खाता है। सभ्यता के बहुत निम्न-स्तर पर कभी-कभी पर स्त्री-

गमन के प्रति सहिष्णुता दिखाई जाती है। कहा जाता है कि समोआ के निवासी जब यात्रा के लिए जाते हैं तो उन्हें इस बात की पूरी आशा होती है कि उनकी अनुपस्थिति में उनकी पत्नियां तृप्ति लाभ करेंगी।[1] सभ्यता के कुछ ऊंचे स्तर पर परपुरुष-गामी स्त्रियों को मृत्यु दण्ड नहीं तो कड़ा दण्ड अवश्य दिया जाता था। जब मैं छोटा था तो मम्बो जम्बो का मंगो पार्क द्वारा किया गया वर्णन सभी को मालूम था। परन्तु हाल ही में मुझे यह देख कर दुःख हुआ है कि अमेरिका के सुसंस्कृत लोग मम्बो जम्बो को कांगो का देवता समझते हैं। सच तो यह है कि न वह देवता था और न उसका कोई सम्बन्ध कांगो से था। वह तो काल्पनिक प्रेत था, जिसका आविष्कार अपर नाइजर के निवासियों ने पाप करने वाली स्त्रियों को डराने के लिए किया। मंगो पार्क के वर्णन से धर्म के उद्गम के सम्बन्ध में वाल्तेयर जैसे दृष्टिकोण का आभास मिलता है। इसी कारण आधुनिक मानव-शास्त्रियों का रुझान इस विचार को चुपचाप दबाने की ओर रहा है; क्योंकि वे इस बात को सहन नहीं कर सकते कि असभ्य लोगों के कृत्यों से उनकी शठता तर्क संगत दिखाई पड़े। जो पुरुष किसी अन्य की पत्नी से सम्भोग करता था वह निस्सन्देह अपराधी माना जाता था लेकिन जो पुरुष किसी अविवाहिता के साथ सम्भोग करता था उस पर तभी दोष आता था जब कि सम्भोग के कारण विवाह के बाज़ार में उस स्त्री का मूल्य घट गया हो।

ईसाई धर्म के उदय के साथ यह दृष्टिकोण बदल गया। विवाह में धर्म का योग बहुत बढ़ा दिया गया और विवाह-विधि के उल्लंघन को सम्पत्ति के बजाय रूढ़-निषेध के आधार पर बुरा माने जाने लगा। किसी दूसरे की पत्नी के साथ सम्भोग निस्सन्देह उस पुरुष (पति) के प्रति अपराध माना ही जाता था परन्तु विवाहित न होते हुए किसी से सम्भोग करना तो ईश्वर के प्रति अपराध था। और चर्च की दृष्टि में यह बात बहुत अधिक गम्भीर थी। पहले बड़ी आसानी से पुरुषों को तलाक़ की अनुमति दे दी जाती थी, परन्तु अब इसी कारण यही बात अग्राह्य हो गई। विवाह पवित्र संस्कार बन गया और इसलिए इसे आजीवन-सम्बन्ध माना जाने लगा।

---

१. मार्गरेटमीड, 'कमिंग ऑफ़ एज इन समोआ' १९२८, पृष्ठ १०४।

यह कहना कठिन है कि इस से मानव के सुख का सम्वर्धन हुआ या उसे क्षति पहुँची। किसानों में विवाहित स्त्रियों का जीवन बड़ा कठोर होता है और सब से कम सभ्य किसानों में उन्हें कठोरतम जीवन बिताना पड़ता है। अधिकतर वर्बर जातियों में स्त्री पच्चीस वर्ष की आयु में बूढ़ी हो जाती है और उस आयु में सौंदर्य का कुछ भी चिन्ह बाकी नहीं रहता। स्त्रियों को पालतू पशु के समान समझने वाला दृष्टिकोण निस्सन्देह पुरुषों के लिए सुखदायक था, परन्तु स्त्रियों के लिए इस का मतलब कठोर परिश्रम के अतिरिक्त और कुछ न था। ईसाई धर्म ने तो कुछ दृष्टियों से स्त्रियों की स्थिति, विशेषकर धनी वर्गों में, बदतर बना दी; परन्तु उसने यह अवश्य स्वीकार किया कि धर्म की दृष्टि में स्त्रियां पुरुषों के समान हैं और उन्हें पूर्णरूपेण पतियों की सम्पत्ति मानने से इन्कार किया। निस्सन्देह, विवाहित स्त्री को अपने पति को छोड़ कर किसी अन्य पुरुष के पास जाने की अनुमति तो नहीं थी परन्तु उसे सन्यास लेने के लिए पति त्यागने की अनुमति थी। और सब बातों को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि ईसाई धर्म से पहले के दृष्टिकोण की अपेक्षा ईसाई दृष्टिकोण से स्त्रियों की स्थिति में उन्नति की ओर प्रगति अधिक सरलता से और जनता के अधिकांश भाग में हुई।

जब हम आज के संसार पर दृष्टि दौड़ाते हैं और अपने आप से पूछते हैं कि सभी बातों को देखते हुए वे कौन-सी परिस्थितियां हैं जिन में विवाह सुखी हो सकता है और किन बातों से दुःखी होता है, तो हम एक अद्भुत परिणाम पर पहुँचते हैं : वह यह है कि लोग जितने अधिक सभ्य होते जा रहे हैं, उन में एक ही साथी के साथ आजीवन सुख से रहने की क्षमता कम होती जा रही है। यद्यपि हाल ही के समय तक आयरलैंड के किसानों में माता-पिता ही सन्तान के विवाह का निर्णय करते थे, और जो लोग उन्हें भलीभांति जानते हैं उन का कहना है कि विवाह के उपरान्त वे सदा सुखी ही होते थे और सदाचरण से दाम्पत्य जीवन बिताते थे। साधारणतया, जहां लोगों में परस्पर भेद अत्यन्त कम हों, वहां विवाह में सब से कम कठिनाई होती है। जब पुरुष दूसरे पुरुषों से तनिक भी भिन्न न हो और स्त्री भी अन्य स्त्रियों जैसी ही हो, वहां इस बात पर खेद का अनुभव

करने का कोई विशेष कारण नहीं होता कि किसी अन्य से विवाह क्यों न किया। परन्तु जिन लोगों की पसन्द, दिलचस्पी और रुचि बहुमुखी हो, उन में यह रुझान रहता है कि वे अपने साथी में अनुकूलता की इच्छा करते हैं। और जब उन्हें यह मालूम होता है कि वे किसी अन्य को चुन लेते तो सम्भवत: उसे अधिक अनुकूल पाते, तो उन में असन्तोष की भावना जाग उठती है। चर्च विवाह को केवल सेक्स की दृष्टि से देखता है और इसलिए उसे इस बात का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता कि दम्पति में से एक सुखी है तो दूसरा भी उतना ही सुखी क्यों नहीं हो सकता। इसीलिए यह माना जाता है कि विवाह अविच्छेद्य है और इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता कि इस कारण कितनी कठिनाई होती है।

सुखी विवाह के लिए एक और आवश्यक परिस्थिति यह है कि ऐसी स्त्रियों की कमी हो, जिनका कोई स्वामी न हो और ऐसे सामाजिक अवसर हों जबकि विवाहित पुरुष सम्भ्रांत स्त्रियों से मिल सकें। यदि अपनी पत्नी के अतिरिक्त और किसी स्त्री से सेक्स-सम्बन्ध स्थापित कर सकने की सम्भावना न हो तो अधिकतर पुरुष इस स्थिति पर सन्तोष कर लेंगे और असाधारण रूप से शोचनीय स्थितियों को छोड़ कर इसे सहनीय मान लेंगे। यही बात पत्नियों पर लागू होती है, विशेषकर उस दशा में जबकि वे कभी यह न सोचें कि विवाह के फलस्वरूप अधिक सुख की प्राप्ति हो सकती है। दूसरे शब्दों में, यदि पति-पत्नी में से कोई भी विवाह से अधिक सुख की आशा न करे तो विवाह के सुखी होने की आशा है।

इसी कारण से सामाजिक प्रथा की रूढ़िता से दुःखी विवाहों को रोकने में भी सहायता मिलती है। यदि विवाह के बन्धनों को अटूट और अन्तिम मान लिया जाये तो कल्पना को इधर-उधर भटकने के लिए उद्दीपन ही नहीं मिलता जिससे मनुष्य यह सोचने लगे कि वर्तमान आनन्द से भी बढ़-चढ़ कर आनन्द लाभ हो सकता था। जहां इस प्रकार की मानसिक स्थिति हो, वहां घरेलू शान्ति के लिए यह जरूरी है कि पति या पत्नी में से कोई भी शिष्ट व्यवहार के सामान्यतया अभिज्ञात मानक से—चाहे वह जो भी हो—बहुत अधिक न गिर जाये।

आधुनिक विश्व की सभ्य जातियों में जिसे सुख कहा जाता है उसके लिए

आवश्यक कोई भी परिस्थिति नहीं मिलती और इसलिए हम देखते हैं कि पहले कुछ वर्षों के बाद बहुत कम विवाह सुखी होते हैं। सुख के अभाव के कुछ कारण तो सभ्यता से सम्बद्ध हैं। परन्तु यदि स्त्री और पुरुष अधिक सभ्य हो जायें तो बाकी के कारण भी दूर हो जायेंगे। पहले हम बाकी के कारणों को लेते हैं। इनमें एक सबसे महत्वपूर्ण कारण है त्रुटिपूर्ण सेक्स-सम्बन्धी शिक्षा, जो धनाढ्य वर्ग में इतनी प्रचलित है जितनी किसानों में नहीं हो सकती। किसानों के बच्चे अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में ही वे बातें जान जाते हैं जिन्हें जीवन के तथ्य कहा जाता है और जिन्हें वे न केवल मानवों बल्कि पशुओं में देखते हैं। इस प्रकार वे अज्ञान से बच जाते हैं और उन्हें नाक-भौं सिकोड़ने की आदत भी नहीं पड़ती। इसके विपरीत धनाढ्य वर्ग के बच्चों को सेक्स-सम्बन्धी मामलों के व्यवहारिक ज्ञान से बचा कर रखा जाता है और अत्यधिक आधुनिक माता-पिता भी, जो बच्चों को पुस्तकों से पढ़ाते हैं, उन्हें विषय की वैसी व्यवहारिक पहचान नहीं कराते जैसी किसानों के बच्चे प्रारम्भ में ही कर लेते हैं। ईसाई शिक्षा की विजय तो उस समय होती है जब पुरुष और स्त्री सेक्स का कोई अनुभव प्राप्त होने से पहले ही विवाह कर लेते हैं। जिन मामलों में ऐसा होता है उनमें से अधिकांश के परिणाम खेदजनक होते हैं। मानवों में सेक्स-व्यवहार सहज-वृत्तिमूलक नहीं होता और इसलिए अनुभवहीन दूल्हा और दुल्हन जिन्हें सम्भवत: इस बात का पता नहीं, लज्जा और असुविधा के भार से दब जाते हैं। उस समय भी स्थिति कुछ अधिक अच्छी नहीं होती जब कि स्त्री तो बिल्कुल अनुभवहीन हो परन्तु पुरुष ने वेश्यागमन के कारण सेक्स-ज्ञान प्राप्त कर लिया हो। अधिकतर व्यक्ति इस बात को नहीं समझते कि विवाह के बाद भी पत्नी को रिझाने की आवश्यकता होती है। और अधिकतर स्त्रियाँ, जिन का लालन-पालन सुचारु रूप से हुआ हो, इस बात को महसूस नहीं करतीं कि चुपचाप और शारीरिक दृष्टि से अलग-थलग रह कर वे विवाह को कितनी हानि पहुँचा रही हैं। सेक्स की शिक्षा को अधिक अच्छी बना कर इस स्थिति को सुधारा जा सकता है। सच तो यह है कि युवा पीढ़ी में यह शिक्षा उनके माता-पिता या पितामहों की पीढ़ी की अपेक्षा अधिक अच्छी है। पहले स्त्रियों में यह विश्वास

बहुत प्रचलित था कि वे नैतिक दृष्टि से पुरुषों से अच्छी हैं क्योंकि उन्हें सेक्स में कम आनन्द का अनुभव होता है। इस अभिवृत्ति के कारण पति-पत्नी में शुद्ध हृदय से साहचर्य असम्भव हो गया था। इसमें सन्देह नहीं कि अपने-आप में यह बात औचित्यहीन थी क्योंकि सेक्स का आनन्द न ले सकना, न केवल सदाचार से दूर है, बल्कि शारीरिक या मनोवैज्ञानिक त्रुटि भी है—बिल्कुल उसी प्रकार जैसे भोजन का आनन्द न उठा सकना। सौ वर्ष पहले संस्कृत महिलाओं से इसकी भी आशा की जाती थी कि वे भोजन का आनन्द न उठाएं।

लेकिन विवाहित जीवन में सुख के आधुनिक कारण ऐसे भी हैं जिन्हें इतनी सरलता से नहीं निबटाया जा सकता। मेरा विचार है कि जिन सभ्य लोगों में रूढ़-निषेध न हों उनमें, चाहे वे पुरुष हों या स्त्रियां, साधारणतया बहुविवाह की प्रवृत्ति रहती है। सम्भव है कि वे प्रेम में डूब जायें और कुछ वर्ष तक एक ही व्यक्ति के प्रति आसक्त रहें परन्तु कभी न कभी सेक्स-सम्बन्धी घनिष्टता से, ऊब जाने के कारण काम-वासना मन्द पड़ जाती है और तब वे पुरानी पुलक की खोज में औरों की ओर देखने लगते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि नैतिकता के हित में इस मनोवेग पर नियन्त्रण रखा जा सकता है लेकिन इस मनोवेग का अस्तित्व मिटाना बड़ा कठिन है। स्त्रियों की स्वतन्त्रता के विकास के साथ ही साथ वैवाहिक अनिष्ठा या बेवफ़ाई के अवसर पहले की अपेक्षा बहुत अधिक हो गए हैं। अवसर के कारण विचार उत्पन्न होता है, विचार इच्छा को जन्म देता है, और धर्म से जनित उचित-अनुचित की परख का अभाव कृत्य को जन्म देता है।

दासता से स्त्रियों की मुक्ति हो जाने के कारण विवाह कई प्रकार से और भी कठिन बन गया है। पुराने समय में पत्नी को पति के अनुकूल बनना पड़ता था परन्तु पति को पत्नी के अनुकूल नहीं बनाना पड़ता था। आजकल बहुत-सी पत्नियां, अपने व्यक्तित्व और अपने कृतत्व के अधिकार के आधार पर, एक विशेष सीमा से परे अपने को पति के अनुकूल बनाने के लिए तैयार नहीं और पुरुष, जो अभी तक पुरुष-प्रभुत्व की पुरानी परम्परा के लिए लालायित हैं, सोचते हैं कि हमीं अपने आपको पत्नियों के अनुकूल क्यों बनाएं! बेवफ़ाई के सम्बन्ध में यह कठिनाई विशेषकर अनुभव होती है। पुराने समय में पति कभी-कभी बेवफ़ाई करता

था परन्तु साधारणतया उसकी पत्नी को इस बात का ज्ञान नहीं होता था। यदि उसे पता चल ही जाये तो वह मान लेता था कि उसने पाप किया है और पत्नी को अपने पश्चाताप का विश्वास दिला देता था। लेकिन, दूसरी ओर, पत्नी साधारणतया सदाचारिणी होती थी। यदि वह नहीं होती थी और पति को इस बात का पता चल जाता था तो विवाह टूट जाता था। परन्तु जहां, एक दूसरे के प्रति वफ़ादारी की अपेक्षा नहीं की जाती, जैसा कि अधिकतर आधुनिक विवाहों में होता है, वहाँ ईर्ष्या की सहजवृत्ति तो रहती ही है और भले ही बहुधा स्पष्ट रूप से झगड़ा न हो तो भी ईर्ष्या के कारण प्रगाढ़ घनिष्टता स्थायी नहीं रह पाती।

आधुनिक विवाह के रास्ते में एक और कठिनाई है जिसका अनुभव विशेष कर उन लोगों को होता है जो प्रम के मूल्य के प्रति अत्यधिक सचेत हैं। प्रेम तभी तक फलता-फूलता है जब तक कि यह निर्बाध और सहज स्फूर्त हो। यह विचार कि प्रेम कर्त्तव्य है, प्रेम का हनन कर सकता है। आप से कहा जाये कि अमुक व्यक्ति से प्रेम करना आप का कर्त्तव्य है, तो आप को निश्चय ही उससे घृणा हो जायेगी। विवाह में प्रेम और कानूनी बन्धन दोनों के होने से उसकी दशा उस व्यक्ति जैसी है जो दो कुर्सियों पर बैठने की चेष्टा में गिर पड़ा है। शैले ने कहा है :

> मैं उस बहुसंख्यक समुदाय का सदस्य नहीं हूँ जिनका सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति भीड़ में से प्रेमिका या मित्र चुन ले और बाकी सब को चाहे वे कितने ही विवेकशील और भले क्यों न हों, अपने से दूर रखे और उन्हें भूल जाये। यद्यपि आधुनिक नैतिकता यही कहती है और लोग इसी लकीर के फकीर हैं। बेचारे दास थके पगों से उसी रास्ते पर मृतकों के समान चलते हैं और विश्व के इस लम्बे रास्ते पर चलते समय किसी मित्र के साथ ईर्ष्यालु शत्रु भी बंधा होता है और यह राह बड़ी शुष्क और लम्बी है।

इसमें सन्देह नहीं कि आप यह धारणा बदलें कि विवाह में प्रेम के सभी रास्ते बन्द कर दिए जायें तो इससे व्यक्ति की संवेदनशीलता और सहानुभूति कम हो जाती है, और इसके साथ ही महत्वपूर्ण मानवीय सम्पर्कों के अवसर भी घट जाते हैं। इससे उस वस्तु को हानि पहुँचती है जो आदर्शवादी दृष्टि से

अपने आप में वांछनीय है। और प्रत्येक प्रतिबन्ध लगाने वाली नैतिकता के समान इस वजह से, समूचे मानव-जीवन के सम्बन्ध में ऐसा दृष्टिकोण बन जाता है, जिसे पुलिस वालों का दृष्टिकोण कहा जा सकता है—अर्थात् ऐसा दृष्टिकोण जिसके फलस्वरूप आप सदा यह अवसर खोजते रहते हैं कि कौन-सी बात पर प्रतिबन्ध लगाया जाये।

इन सभी कारणों से, जिनमें से कइयों का सम्बन्ध उन वस्तुओं से है जो निस्सन्देह अच्छी हैं, प्रथा के रूप में विवाह में कठिनाई आ गई है। यदि आप चाहते हैं कि विवाह सुख के रास्ते में बाधा न डाले तो इसकी संकल्पना एक नए ढंग से ही करनी होगी। इस समस्या के हल के लिए बहुधा यह सुझाव दिया जाता है कि तलाक़ दे पाना सरल कर दिया जाये और अमेरिका में तो बड़े पैमाने पर इस पर अमल भी किया गया है। मेरा मत तो यही है— जैसा कि प्रत्येक भद्र व्यक्ति का होना भी चाहिए—कि इंगलैंड के कानून में जिन कारणों के आधार पर तलाक़ की अनुमति है उनसे अधिक कारणों के आधार पर अनुमति होनी चाहिए। परन्तु मैं यह स्वीकार नहीं करता कि वैवाहिक मुसीबतों का निवारण तलाक़ को सरल बना देने से हो जायेगा। यदि विवाह के बाद सन्तान न हुई हो, तो ऐसी दशा में तलाक समस्या का उचित हल हो सकता है। भले ही दम्पति परस्पर भद्रतापूर्ण व्यवहार का भरसक प्रयत्न कर रहे हों, परन्तु मेरे विचार में जहां सन्तान हो, वहां पर विवाह का स्थायित्व बड़े महत्व का विषय है। (इस विषय पर मैं परिवार के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते समय लिखूंगा) मेरा विचार है कि जहां विवाह के बाद सन्तान हो और दम्पति विवेकशील और भद्र हों, वहां यह आशा की जानी चाहिए कि उनका सम्बन्ध आजीवन बना रहेगा; परन्तु यह नहीं सोचना चाहिए कि अन्य सेक्स-सम्बन्ध नहीं होंगे। जब विवाह उत्कट प्रेम से आरम्भ हो और उसके फलस्वरूप वांछित सन्तान हो जाये, जिससे उसके माता-पिता स्नेह करते हों, तब दम्पति में ऐसा गहरा सम्बन्ध उत्पन्न हो जाना चाहिए कि वे परस्पर साहचर्य में एक अनमोल तत्व की अनुभूति करें। सेक्स की तीव्रता घट जाने पर या उनमें से किसी एक या दोनों के मन में किसी अन्य व्यक्ति के प्रति काम-वासना जागने पर भी यह अनुभूति रहनी

चाहिए। ईर्ष्या के कारण विवाह में इस प्रकार कोमलता आ नहीं पाई है। और यद्यपि ईर्ष्या सहज वृत्तिमूलक भाव है, लेकिन इसे नियंत्रित किया जा सकता है। परन्तु यह तभी हो सकता है जब कि ईर्ष्या को बुरा समझा जाये न कि उचित नैतिक क्रोध की अभिव्यक्ति। जिस जोड़े ने कई वर्ष तक इकट्ठे रह कर बहुत-सी घटनाओं की गहन अनुभूति की हो, उनका साहचर्य इतना ठोस होता है कि प्रेम के पहले दिन उसकी तुलना में तुच्छ हैं, चाहे वे कितने ही आनन्द-दायक क्यों न रहे हों। और जो व्यक्ति इस बात को समझता है कि समय बीतने के साथ ही मानवीय मूल्यों का महत्व कैसे बढ़ता जाता है, वह नए प्रेम की खातिर इस प्रकार के पुराने साहचर्य का यूं ही परित्याग नहीं करेगा।

इसलिए सभ्य स्त्री-पुरुष के लिए विवाह के बाद सुखी रहना सम्भव है, यद्यपि यदि उन्हें सुख की आशा हो तो कई शर्तें पूरी करनी पड़ेंगी। दम्पति में पूर्ण समानता की भावना होनी चाहिए; पारस्परिक स्वतन्त्रता में कोई भी हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए; सम्बन्धों में सम्पूर्ण शारीरिक और मानसिक प्रगाढ़ता होनी चाहिए; और जीवन-मूल्यों के मानकों में कुछ सादृश्य भी होना आवश्यक है। (उदाहरण के लिए, दम्पति में से एक तो केवल धन को महत्व दे और दूसरा अच्छे काम को, तो यह बात उनके परस्पर सम्बन्ध के लिए घातक हो सकती है।) मैं समझता हूँ कि यदि ये शर्तें पूरी हो जायें तो विवाह सर्वोत्तम और एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सम्बन्ध है जो कि दो मानवों में हो सकता है। यदि इस बात को आज तक समझा नहीं गया तो इसका मुख्य कारण यही है कि पतियों और पत्नियों ने अपने को एक दूसरे का चौकीदार समझे रखा है। विवाह में सुख की जितनी सम्भावनाएं हैं, उनके फलीभूत होने के लिए यह आवश्यक है कि पति-पत्नी इस बात को समझना सीखें कि कानून चाहे कुछ भी कहता रहे, अपने व्यक्तिगत जीवन में उन्हें स्वतंत्र रहना चाहिए।

अध्याय ११

वेश्यावृत्ति

जब तक सम्भ्रान्त स्त्रियों के सदाचार को बड़े महत्व की बात समझा जाता है तब तक विवाह की संस्था के साथ एक और संस्था का होना भी ज़रूरी है, जिसे वास्तव में विवाह की संस्था का अंग ही माना जाना चाहिए—मेरा अभिप्राय वेश्यावृत्ति की संस्था से है। लेकी ने अपनी पुस्तक में वेश्याओं को घर की पवित्रता और हमारी पत्नियों तथा पुत्रियों के सतीत्व का परित्राण कहा है। यह भावना विक्टोरिया युग की है और कहने का ढंग पुराना है। परन्तु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि यह है सच। नैतिकतावादियों ने लेकी की निन्दा की है क्योंकि उसकी इस बात पर उन्हें क्रोध आया, लेकिन वे स्वयं यह नहीं जानते कि क्यों! और न वे यही प्रमाणित कर सके हैं कि लेकी का कथन ग़लत था। नैतिकतावादी कहता तो ठीक ही है कि यदि लोग उस के उपदेशों पर चलें तो वेश्यावृत्ति नहीं रहेगी, परन्तु वह यह भी जानता है कि वे उस के कहने के अनुसार चलेंगे नहीं और इसलिए यह सोचना ही असंगत है कि लोग वैसा करें तो क्या होगा।

वेश्यावृत्ति की आवश्यकता इस बात के कारण है कि बहुत से पुरुष या तो अविवाहित हैं या अपनी पत्नियों से दूर यात्रा पर जाते रहते हैं; कि ऐसे पुरुष संयमी नहीं रह सकते; और यह कि परम्परानिष्ठ सदाचारी समुदाय में उन्हें भद्र महिलाएं मिलतीं नहीं। इसलिए समाज पुरुषों की उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्त्रियों का एक वर्ग निश्चित कर देता है, जिन का अस्तित्व स्वीकार करने में उसे लज्जा आती है, लेकिन जिन्हें पूर्णतया असन्तुष्ट छोड़ने में उसे डर लगता है। वेश्या का लाभ न केवल इस बात में है कि वह तत्काल प्राप्त हो

सकती है, बल्कि इसलिए भी कि अपनी वृत्ति के बाहर उस का कोई जीवन नहीं। वह बिना कठिनाई के छिपी रह सकती है और पुरुष उसके पास जा कर अपनी प्रतिष्ठा खोए बिना अपनी पत्नी, अपने परिवार और अपने चर्च में लौट सकता है। परन्तु इस बात के बावजूद कि वह निस्सन्देह सेवा करती है और इस बात के होते हुए भी कि वह पत्नियों और पुत्रियों के सतीत्व की रक्षा करती है और धर्माधिकारियों के तथाकथित सदाचार की भी रक्षक है, उस बेचारी से सभी घृणा करते हैं। उसे अछूत माना जाता है और वह अपनी वृत्ति के अतिरिक्त और किसी प्रकार भी सामान्य लोगों से मिल-जुल नहीं सकती। यह महान अन्याय ईसाई धर्म की विजय के साथ प्रारम्भ हुआ और तब से आज तक चला आ रहा है। वेश्या का वास्तविक अपराध यही है कि वह नैतिकतावादियों के कथनों का खोखलापन प्रमाणित कर देती है। जैसे फ्रायड ने कहा है कि सचेत मन में सेंसर बैठा रहता है जो अवांछनीय विचारों को अचेत मन में धकेल देता है। उसी प्रकार वेश्या को भी अचेत मन के अंधकार में धकेल दिया जाता है। और वहां से वह सभी बहिष्कृत लोगों की तरह बिना स्पष्ट इच्छा के—समाज से प्रतिशोध लेती है।

> रात्रि के अंधकार में युवा वेश्या
> की गाली नवजात शिशु के आंसू
> को सुखा देती है और विवाहोत्सव
> को अभिशप्त कर देती है।

वेश्यावृत्ति सदा ही कुत्सित और गुप्त वृत्ति नहीं रही जैसी कि वह आज है। सच तो यह है कि इस का उद्गम बड़ा उदात्त है। प्रारम्भ में वेश्या किसी देव या देवी की उपासिका होती थी और राह चलते नवागंतुक की सेवा द्वारा अपने देव की आराधना करती थी। उन दिनों उस से आदरपूर्ण व्यवहार किया जाता था, और उस के पास जाने वाले पुरुष उस का सम्मान करते थे। ईसाई धर्म के आदि-गुरुओं ने इस प्रणाली के विरुद्ध बहुत कुछ लिखा। उन का कहना था कि यह अनीश्वरवादियों की वासनाजन्य आराधना की द्योतक है और इस का जन्म शैतान के छल के कारण हुआ। मन्दिर बन्द कर दिए गए और वेश्यावृत्ति वैसी बन गई जैसी कि आज अधिकतर स्थानों में बन गई है, अर्थात् एक व्यापारिक

संस्था जो लाभ के लिए चलाई जाती है। लेकिन वेश्याओं के लाभ के लिए नहीं, बल्कि उनके लाभ के लिए जिनकी वे सचमुच दासी होती हैं। हाल ही के समय तक वेश्या अकेली ही अपना व्यवसाय नहीं चलाती थी, जैसे कि आजकल चलाती है बल्कि उन दिनों ऐसी वेश्या एक अपवाद मात्र थी। अधिकतर वेश्याएँ चकलों, स्नानागारों या अन्य कुख्यात संस्थाओं में रहती थीं। भारत में धार्मिक वेश्यावृत्ति अभी तक पूर्णतया व्यावसायिक रूप में परिणत नहीं हो सकी है। कैथरीन मेयो ने अपनी पुस्तक **मदर इण्डिया** में धार्मिक वेश्यावृत्ति के अस्तित्व का प्रमाण दिया है और इस आधार पर भी भारत की निन्दा की है।

दक्षिणी अमेरिका को छोड़[1], वेश्यावृत्ति ह्रासमान दिखाई पड़ती है। इस में सन्देह नहीं कि इस का कारण कुछ तो यह है कि स्त्रियों के लिए पहले की अपेक्षा आजीविका के अन्य साधन अधिक मिलने लगे हैं और कुछ यह भी है कि पहले की अपेक्षा अधिक स्त्रियां व्यावसायिक प्रेरणा से नहीं, अपितु स्वेच्छा से बिना विवाह किये यौन-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए तैयार होती हैं। जो भी हो, मेरा विचार है कि वेश्यावृत्ति का उन्मूलन सम्पूर्णतया नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए, उन नाविकों की ही बात लीजिए जो लम्बी समुद्र-यात्रा के बाद तट पर पहुँचते हैं। उन से इतना धैर्य रखने को आशा नहीं की जा सकती कि वे उन स्त्रियों को रिझायेंगे जो केवल स्नेह के कारण उन के पास आती हैं। या उन बहुत से पुरुषों की बात सोचिए जो विवाह में सुखी नहीं हैं और अपनी पत्नियों से डरते हैं। ऐसे पुरुष जब अपने घर से दूर होंगे तो कुछ अनुतोष चाहेंगे और उसे ऐसे रूप में चाहेंगे कि उन पर कोई मानसिक आभार न रहे। परन्तु फिर भी वेश्यावृत्ति को कम-से-कम करने की इच्छा के महत्वपूर्ण कारण हैं। वेश्यावृत्ति पर तीन गम्भीर आपत्तियां की जा सकती हैं : पहली यह कि इस से समुदाय के स्वास्थ्य को खतरा है ; दूसरी यह कि इस से स्त्रियों को मनोवैज्ञानिक क्षति पहुँचती है ; और तीसरी यह कि पुरुषों को मनोवैज्ञानिक क्षति पहुँचती है।

इन तीनों में सबसे अधिक महत्व स्वास्थ्य के लिए खतरे का है। इसमें सन्देह नहीं कि रतिरोग अधिकतया वेश्याओं के माध्यम से ही फैलता है।

१. देखिये अल्बर्ट लोंड्रेज़ की पुस्तक 'द रोड टू ब्यूनस आयर्स', १९२९।

वेश्याओं को पंजीकृत करने और राज्य द्वारा उनकी परीक्षा करने की चेष्टाओं द्वारा इस समस्या को हल करने के प्रयत्न चिकित्सा के दृष्टिकोण से सफल सिद्ध नहीं हुए हैं। इनके कारण और बहुत-सी बुराइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। क्योंकि इस कारण पुलिस को वेश्याओं पर बल्कि कभी-कभी ऐसी स्त्रियों पर भी अधिकार प्राप्त हो जाता है जिनका ध्येय वेश्यावृत्ति अपनाना नहीं होता, परन्तु जो न चाहते हुए भी कानून की परिभाषा के अनुसार वेश्या मानी जाने लगती हैं। निस्सन्देह, रतिरोगों को अपेक्षाकृत और अधिक प्रभावी ढंग से रोका जा सकता है, परन्तु उसके लिए यह आवश्यक है कि उन्हें पाप का समुचित दण्ड न माना जाये। रतिरोगों की सम्भावना कम करने के लिए पूर्वोपाय किए जा सकते हैं। परन्तु इन पूर्वोपायों का प्रचार करना इस कारण अवांछनीय समझा जाता है कि उनका ज्ञान हो जाने से लोगों में पाप बढ़ेगा। जिन लोगों को रतिरोग हो जाते हैं, वे उनका इलाज कराना स्थगित करते रहते हैं क्योंकि इस प्रकार के रोग अपमानजनक माने जाते हैं। इस सम्बन्ध में समुदाय का दृष्टिकोण पहले की अपेक्षा निस्सन्देह अच्छा है और यदि इसमें तनिक और सुधार हो गया तो रतिरोग बहुत कम हो जायेंगे। जो भी हो, यह स्पष्ट है कि जब तक वेश्यावृत्ति रहेगी, ऐसे रोगों के फैलने के साधन बने रहेंगे, जोकि और सभी रोगों की अपेक्षा अधिक जोखिमपूर्ण हैं।

वेश्यावृत्ति आजकल जिस रूप में है, स्पष्टतया वह अवांछनीय प्रकार का जीवन है। रोग लग जाने का भय होने के कारण वेश्यावृत्ति खतरनाक व्यवसाय बन जाता है—जैसा कि सफेदा बनाने का काम है। परन्तु इसके अतिरिक्त यह जीवन अनैतिकतापूर्ण हैं। इसमें काम कुछ नहीं होता और अत्यधिक मदिरापान की प्रवृत्ति रहती है। इसमें एक गम्भीर त्रुटि यह है कि वेश्या को घृणित माना जाता है और सम्भवतः उसके गाहक भी उसे बुरा ही समझते हैं। उसका जीवन सहजवृत्ति के विपरीत है—बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि नन—भिक्षुणी—का जीवन सहजवृत्ति के विपरीत होता है। इन सभी कारणों से वेश्यावृत्ति—जिस रूप में यह ईसाई देशों में विद्यमान है—असाधारण रूप से अवांछनीय कृतत्व है।

जापान में तो दशा बिल्कुल दूसरी है। वेश्यावृत्ति को कृतत्व के रूप में स्वीकार किया जाता है और उसे अच्छा माना जाता है। बल्कि माता-पिता के कहने पर यह वृत्ति अपना भी ली जाती है—अपने विवाह के लिए दहेज जुटाने का यह सामान्य उपाय है। कुछ विद्वानों का कहना है कि जापानियों में उपदंश बहुत कम होता है। इसलिए जापान में वेश्या का जीवन उतना कुत्सित नहीं है जितना कि उन देशों में है जहाँ नैतिकता के बन्धन अत्यधिक कड़े हैं। स्पष्ट है कि यदि वेश्यावृत्ति को रहना ही है, तो वह वैसी ही रहे जैसी कि जापान में है न कि वैसी जैसी हम योरुप में देखते हैं। यह भी स्पष्ट है कि देश में नैतिकता की कसौटी जितनी अधिक कड़ी होगी, वेश्या का जीवन उतना ही अधिक अपमान-जनक माना जायेगा।

वेश्याओं के पास जाने की आदत पड़ जाये तो पुरुष की मानसिक स्थिति पर उसका बुरा प्रभाव पड़ता है। उसे यह अनुभव करने की आदत पड़ जायेगी कि मैथुन से पहले स्त्री को प्रसन्न करने की आवश्यकता नहीं है। यदि उसे प्र-चलित आचार-संहिता में आस्था हो तो उसमें प्रत्येक उस स्त्री के प्रति अनादर का भाव होने की प्रवृत्ति रहेगी, जिसके साथ उसने मैथुन किया हो। विवाह पर इस प्रकार की मनोवृत्ति की प्रतिक्रिया बहुत भयंकर हो सकती है। इस प्रति-क्रिया का एक रूप तो यह है कि विवाह को वेश्यागमन के समान ही समझ लिया जाता है और दूसरा यह कि इसे वेश्यागमन से अत्यधिक दूर समझा जाता है। कुछ पुरुष उस स्त्री से मैथुन की इच्छा ही नहीं कर सकते हैं जिससे उन्हें अत्यधिक प्रेम हो या जिसका वे आदर करते हों। फ्रायड के अनुयायी इस का कारण ईडिपस ग्रंथि बताते हैं परन्तु मेरा यह विचार है कि इसका कारण बहुधा यह इच्छा होती है कि ऐसी स्त्रियों और वेश्याओं के बीच यथासम्भव अधिकाधिक भेद किया जाये। इस प्रकार चरम सीमा तक पहुँचे बिना ही बहुत से पुरुष—विशेषकर पुराने ढंग के पुरुष—अपनी पत्नियों के प्रति अत्यधिक आदर-भाव दिखाते हैं जिसके कारण मानसिक दृष्टि से वे सदा कुंवारे ही रहते हैं और सेक्स-सम्बन्धी आनन्द नहीं ले सकते। और जब कोई पुरुष अपनी पत्नी की कल्पना वेश्या के रूप में करता है, तो बिल्कुल इसके विपरीत बुराई उत्पन्न होती

है। इसके कारण वह यह भूल जाता है कि मैथुन तभी होना चाहिए जब दोनों चाहते हों और यह कि मैथुन से पहले कुछ समय तक प्रेमोपसेवन सदा होना चाहिए। इसलिए वह अपनी पत्नी के प्रति बहुत रूखा और नृशंस हो जाता है और उसमें ऐसी जुगुप्सा उत्पन्न कर देता है, जिसे मिटाना बहुत कठिन है।

सेक्स-क्षेत्र में आर्थिक प्रेरणा के पदार्पण से बुरे परिणाम निकलते हैं। उनकी मात्रा चाहे कम हो चाहे अधिक, होते वे बुरे ही हैं। यौन सम्बन्ध परस्पर सुखदायी होने चाहिएँ और स्त्री तथा पुरुष दोनों के सहज-स्फूर्त मनोवेग के परिणाम स्वरूप होने चाहिएँ। जहां ऐसा नहीं होता वहां प्रत्येक महत्वशाली बात का अभाव रहता है। किसी अन्य व्यक्ति का इतने निकट तथा प्रगाढ़ रूप में प्रयोग करने का अर्थ यह है कि मानव के रूप में उसके प्रति आदर का अभाव है; और मानव के रूप में आदर से ही सच्ची नैतिकता का जन्म होना चाहिए। किसी संवेदनशील व्यक्ति के लिए इस प्रकार का कृत्य कभी आकर्षक नहीं हो सकता। परन्तु फिर भी यदि शारीरिक आवेग की उत्कटता के कारण ही यह कृत्य किया जाय, तो बाद में पश्चाताप होता है और पश्चाताप के कारण व्यक्ति में मूल्य परखने की योग्यता अव्यवस्थित हो जाती है। यह बात न केवल वेश्यावृत्ति पर बल्कि विवाह पर भी उतनी ही लागू होती है। स्त्रियों के लिए आजीविका का सबसे अधिक प्रचलित साधन विवाह है और विवाह में स्त्रियों को बिना इच्छा के जितना सेक्स-भार सहन करना पड़ता है, उसकी मात्रा सम्भवतः वेश्यावृत्ति की अपेक्षा अधिक है। यदि यौन सम्बन्धों की नैतिकता अंध विश्वास से मुक्त हो तो उसके लिए यह आवश्यक है कि उसमें दूसरे व्यक्ति के लिए आदर की भावना हो; और उसकी इच्छाओं को ध्यान में रखे बिना केवल अपने सुख के साधन के रूप में उसका प्रयोग करने की अनिच्छा हो। वेश्यावृत्ति इस सिद्धान्त के विरुद्ध है इसलिए चाहे वेश्याओं का आदर होने लगे और रति-रोगों का उन्मूलन कर दिया जाये। फिर भी वेश्यावृत्ति केवल इसी आधार पर अवांछनीय रहेगी।

हैवलॉक एलिस ने वेश्यावृत्ति सम्बन्धी अपने रोचक अध्ययन में इस के पक्ष में एक दलील दी है जिसे मैं ठीक नहीं मानता। उन्होंने पानोत्सव की चर्चा की

है, जोकि अधिकतर आदिकालीन सभ्यताओं में होता था और उसे वह उन अराजकतावादी आवेगों का विकास मानते हैं, जिन्हें अन्य अवसरों पर नियंत्रण में रखना पड़ता है। उनका कहना है कि वेश्यावृत्ति का विकास पानोत्सव से हुआ और वेश्यावृत्ति किसी हद तक उसी प्रयोजन को पूरा करती है जिस की पूर्ति पहले पानोत्सव करता था। उनका कथन है कि बहुत से पुरुष परम्परागत विवाह के बन्धनों, सौष्ठव और शिष्ट सीमा में नहीं रह सकते और ऐसे पुरुष यदा-कदा वेश्यागमन करके अपनी भड़ाँस निकाल लेते हैं। उनके विचार में यह निकास अन्य किसी निकास से, जोकि पुरुषों को उपलब्ध है, बहुत कम समाज-विरोधी होता है। गहराई से देखा जाये तो हैवलॉक एलिस की दलील भी वास्तव में वैसी ही है जैसी कि लेकी की; हाँ इसका रूप अधिक आधुनिक है। जिन स्त्रियों के यौन जीवन पर रूढ़-निषेधों का प्रभाव नहीं होता, उन पर वैसे मनोवेगों का प्रभाव पुरुषों की तरह ही पड़ता है जिनकी चर्चा हैवलॉक एलिस ने की है। और यदि स्त्रियों का यौन जीवन उन्मुक्त कर दिया जाये तो पुरुषों के उन आवेगों की संतुष्टि उन स्त्रियों के पास जाए बिना हो सकेगी जोकि केवल धन की प्रेरणा से सम्भोग कराती हैं। सेक्स के पहलू से स्त्रियों के उन्मुक्त होने का यह लाभ सचमुच बहुत बड़ा लाभ है, जिसकी आशा की जा सकती है। जहाँ तक मैं देख सका हूँ, सच यह है कि सेक्स के सम्बन्ध में जिन स्त्रियों के विचारों और भावनाओं पर पुराने रूढ़-निषेधों का प्रभाव नहीं है वे विवाह में विक्टोरिया युगीन स्त्रियों की अपेक्षा अधिक सन्तोष प्राप्त कर सकती हैं और सन्तोष प्रदान कर सकती हैं। जहां-जहां पुरानी नैतिकता का ह्रास हुआ है, वेश्यावृत्ति का भी ह्रास हुआ है। पहले जिस युवक को यदा-कदा वेश्यागमन करने पर विवश होना पड़ता था, वह अब अपने वर्ग की लड़कियों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। ये सम्बन्ध दोनों ओर से स्वतन्त्र होते हैं, इनमें मानसिक तत्व भी होता है जोकि शारीरिक तत्व की तरह ही महत्वपूर्ण होता है। और इनमें दोनों का परस्पर उत्कट प्रेम निहित होता है। किसी भी वास्तविक नैतिकता के दृष्टिकोण से, यह सम्बन्ध पुरानी प्रणाली की अपेक्षा अधिक अच्छा है। नैतिकतावादियों को इस पर खेद होता है क्योंकि इसे छिपाना कम

सरल है परन्तु नैतिकता का पहला सिद्धान्त यह तो नहीं है कि सदाचार के व्यक्तिक्रम का पता नैतिकतावादी को न चले। मेरा विचार है कि युवा लोगों के सम्बन्धों में यह नई स्वतन्त्रता सन्तोष का विषय है और इसके परिणामस्वरूप ऐसे पुरुषों की पीढ़ी आ रही है जिन में नृशंसता नाम मात्र को भी नहीं और ऐसी स्त्रियों की पीढ़ी जिसमें जरा-जरा सी बात पर उचित-अनुचित की भीरुता-पूर्ण परख की भावना नहीं रही। जो लोग नई स्वतन्त्रता का विरोध करते हैं, उन्हें यह भली भांति समझ लेना चाहिए कि वे वास्तव में इस बात की पैरवी कर रहे हैं कि अत्यधिक कड़ी आचार-संहिता के दबाव के विपरीत एकमात्र कवच के रूप में वेश्यावृत्ति जारी रहनी चाहिए।

साहचर्य-विवाह

विवेक पर आधारित आचार-शास्त्र में विवाह को तब तक विवाह नहीं माना जायेगा जब तक कि उसके परिणामस्वरूप बच्चे न हों। जिस दम्पति के सन्तान न हो, उसका विवाह सरलता से टूट सकना चाहिए, क्योंकि समाज के लिए सेक्स-सम्बन्धों का महत्व इसी कारण है कि उनके फलस्वरूप सन्तानोत्पत्ति होती है और वैध संस्था तभी उनको मान्यता दे सकती है। परन्तु चर्च का विचार यह नहीं है, क्योंकि वहां तो सेन्ट पॉल के प्रभाव के कारण विवाह को अभी तक सन्तानोत्पत्ति का साधन नहीं वरन् अनूढ़ागमन का विकल्प माना जाता है। हाल ही के कुछ वर्षों में पादरियों को भी यह पता चल गया है कि स्त्री-पुरुष संभोग का अनुभव करने के लिए सदा विवाह की प्रतीक्षा में ही नहीं रहते। पुरुषों के सम्बन्ध में तो—यदि उनका गमन वेश्याओं के पास ही रहा हो और ढंग से उसे छिपाए रखा जाये तो उनके दुराचार को क्षम्य मानना सरल है परन्तु वेश्याओं के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों में—जिसे परम्परानिष्ठ व्यक्ति अनैतिकता कहते हैं—उसे सहन करना कठिन है। फिर भी अमेरिका, इंग्लैण्ड, जर्मनी और स्कैंडेनेविया में युद्ध के पश्चात् एक महान परिवर्तन आया है। सम्भ्रांत परिवारों की लड़कियों ने यह सोचना बन्द कर दिया है कि अपना "सतीत्व" बनाए रखना अच्छा है। और युवक वेश्याओं के पास जाकर तृप्ति प्राप्त करने के स्थान पर उस वर्ग की लड़कियों के साथ सम्बन्ध बना लेते हैं जिनके साथ यदि वे अमीर होते तो विवाह करने की इच्छा करते। ऐसा लगता है कि इंग्लैण्ड की बजाय संयुक्त राज्य अमेरिका में यह सिलसिला अधिक बढ़ गया है, जिसका कारण मेरे विचार में मद्य-निषेध और मोटरकारें हैं। मद्य-निषेध के कारण यह अनिवार्य

बन गया है कि आमोद भरी पार्टी में जाकर लोग शराब के नशे में थोड़ा बहुत धुत्त अवश्य हो जाते हैं। बहुतेरी लड़कियों के पास अपनी कारें हैं जिस कारण उनके लिए अपने माता-पिता और पड़ोसियों की आंख बचाकर अपने प्रेमी के साथ भाग जाना सरल हो गया है। इसका परिणाम क्या होता है, इसका वर्णन जज लिंड्से की पुस्तकों में मिलता है।[1] वयोवृद्ध लोग लिंड्से पर अतिशयोक्ति का आरोप लगाते हैं परन्तु युवा लोग नहीं। अपनी यात्रा में मैंने भी युवकों से पूछताछ करके जज लिंड्से के कथनों की परीक्षा की है। मैंने देखा कि उनमें तथ्यों से मुकरने का कोई रुझान नहीं है। अमेरिका भर में ऐसा देखा गया है कि बहुत-सी लड़कियां जो विवाह के बाद सम्भ्रांत बन जाती हैं, विवाह से पहले, बहुधा कई प्रेमियों के साथ यौन अनुभव प्राप्त कर लेती हैं। और जहां सम्पूर्ण सम्बन्ध स्थापित नहीं भी हो पाता वहाँ चूमाचाटी और प्रेमालिंगन इतना अधिक होता है कि पूर्ण सम्भोग का सम्पन्न न होना विकृत मनोदशा ही कहा जा सकता है।

मैं स्वयं यह नहीं कह सकता कि मैं इस परिस्थिति को सन्तोषजनक मानता हूँ। परम्परानिष्ठ नैतिकतावादियों ने इस पर कुछ अवांछनीय पहलू लागू कर दिए है और जब तक परम्परागत नैतिकता नहीं बदल जाती तब तक इन अवांछनीय पहलुओं की समाप्ति का भी कोई तरीक़ा मुझे दिखाई नहीं देता। सच तो यह है कि अवैध सेक्स भी अवैध मद्य क समान वैध सेक्स की अपेक्षा कहीं घटिया है। मेरा विचार है कि कोई इस बात से इनकार नहीं कर सकता है कि अमेरिका में मद्य-निषेध से पहले की अपेक्षा उसके बाद अधिक धनाढ्य युवकों और उनसे भी अधिक युवतियों में मद्यपान की आदत पड़ी है। कानून की पकड़ से बच निकलने में एक विशेष आनन्द है और अपनी चतुराई पर गर्व होता है। और जब मद्यपान सम्बन्धी कानून का उल्लंघन किया जाता है, तो सेक्स-सम्बन्धी परम्पराओं का उल्लंघन भी स्वाभाविक ही है। यहां भी दुस्साहस कामोद्दीपन का काम करता है। परिणाम यह होता है कि युवा व्यक्तियों के परस्पर सेक्स-सम्बन्ध अत्यन्त मूर्खतापूर्ण रूप धारण कर लेते हैं। वे स्नेह के कारण नहीं, वरन्

---

१. द रिवोल्ट ऑफ़ मॉडर्न यूथ, १९२५। कम्पैनियनेट मैरेज, १९२७।

दुस्साहस के कारण स्थापित किए जाते हैं या नशे की अवस्था में। मद्य की तरह सेक्स-सेवन भी उन रूपों में करना पड़ता है जो संकेन्द्रित और तनिक अस्वादु हों क्योंकि यही रूप अधिकारी वर्ग की दृष्टि से बच सकते हैं। मेरा विचार है कि अमेरिका में विवाहेतर ऐसे यौन-सम्बन्ध बहुधा नहीं होते जिनमें प्रतिष्ठा, विवेक और सम्पूर्ण हार्दिक सक्रियता हो जिसके परिणामस्वरूप सारा व्यक्तित्व में एक सहयोग हो। यहीं तक तो नैतिकतावादी सफल रहे हैं। वे अनूढ़ागमन को रोक नहीं पाए, इसके विपरीत इसका विरोध उन्होंने इस ढंग से किया कि यह और आकर्षक बन गया और इसीलिए इसका प्रचलन अधिक हो गया है। परन्तु वे इसे लगभग उतना अवांछनीय बनाने में सफल हुए हैं जितना कि उनके विचार में यह है। बिलकुल उसी प्रकार जैसे उन्होंने पी जाने वाली मदिरा की अधिकांश मात्रा को उतनी ही विषाक्त बना दिया है, जितनी कि उनके विचार में मदिरा है। उन्होंने युवा व्यक्तियों को इस बात के लिए विवश कर दिया है कि वे शुद्ध रूप में सेक्स-सेवन करें, जिसका सम्बन्ध प्रतिदिन के साहचर्य से नहीं, कामकाज से नहीं और न मानसिक घनिष्ठता से है। युवा पीढ़ी में भीरु व्यक्ति सम्पूर्ण यौन सम्बन्धों तक नहीं पहुँचते, बल्कि देर तक यौन उत्तेजना की स्थिति बनाए रखते हैं जिसमें सन्तोष नहीं होता। इस प्रकार की मनोस्थिति स्नायुओं को दुर्बल बनाती है और बाद में सेक्स का पूरा आनन्द उठा पाना कठिन या असम्भव हो जाता है। अमेरिका के युवा व्यक्तियों में जिस प्रकार की यौन उत्तेजना रहती है, उसमें एक और अवगुण यह है कि इसके कारण या तो काम नहीं हो पाता और या नींद नहीं आती, क्योंकि यह उन पार्टियों में उत्पन्न होती है जो बहुत रात गए तक चलती रहती हैं।

इससे भी गम्भीर बात यह है कि जब तक नैतिकता अपने वर्तमान रूप में रहेगी, कभी-कभी संकट का जोखिम भी बना रहेगा। दुर्भाग्यवश, यह हो सकता है कि किसी युवा व्यक्ति के कृत्यों का पता नैतिकता के किसी अभिभावक को चल जाये, तो वह स्वच्छ अन्तरात्मा से बदनामी का आन्दोलन प्रारम्भ कर देगा जिसमें उसे पर-पीड़ा से आनन्द का अनुभव होगा। और चूँकि अमेरिका में व्यक्तियों के लिए सन्तति निरोध के उपायों का समुचित ज्ञान प्राप्त करना लग-

भग असम्भव है, अवांछित गर्भाधानों की कमी नहीं है। इनका इलाज साधारणतया भ्रूणहत्या करके किया जाता है जो खतरनाक, कष्टप्रद और अवैध है और जिसे छिपाना सरल नहीं है। युवा लोगों की नैतिकता और वयोवृद्ध व्यक्तियों की नैतिकता के बीच पूरी खाई है और आज के अमेरिका में उसका एक और ही दुःखद परिणाम होता है : वह यह कि माता-पिता और सन्तान के बीच बहुधा मित्रता या घनिष्ठता नहीं होती, और माता पिता अपनी संतान को परामर्श या सहानुभूति द्वारा सहायता नहीं दे सकते। जब युवा लोग किसी मुसीबत में फँस जाते हैं तो वे विस्फोट बल्कि बदनामी का बवंडर उठाए बिना उसकी चर्चा अपने माता-पिता से नहीं कर सकते, क्योंकि उसके परिणामस्वरूप उथल-पुथल होने का भय रहता है। इस प्रकार सन्तान के किशोरावस्था प्राप्त करने के बाद माता-पिता और सन्तान का परस्पर सम्बन्ध कुछ उपयोगी नहीं रह जाता। ट्रोब्रियांड द्वीप के निवासी कितने अधिक सभ्य हैं, जहां पिता अपनी पुत्री के प्रेमी से कहता है, "तुम मेरी पुत्री के साथ सोते हो; अच्छा, चलो उससे विवाह करलो।"[1]

हम जिन त्रुटियों पर विचार कर रहे हैं, उनके साथ साथ कुछ बड़े लाभ भी हैं जो कि अमेरिका के वयोवृद्ध व्यक्तियों की अपेक्षा युवा पीढ़ी के परम्परानिष्ठता से उन्मोचन में प्रकट हुए हैं; हां, यह बात अवश्य है कि यह उन्मोचन आंशिक ही रहा है। वे उचित-अनुचित की कड़ी भावना से अधिक मुक्त हैं, रूढ़ निषेधों के प्रभाव उन पर कम हैं और उस अधिकार के कम गुलाम हैं जिसकी नींव विवेक पर नहीं है। मेरा यह भी विचार है कि वे अपने बड़े-बूढ़ों की अपेक्षा कम क्रूर, कम नृशंस और कम हिंसक प्रमाणित होंगे। यह इसलिए कि अमेरिका के जीवन की यह विशेषता रही है कि जिन अराजकतापूर्ण मनोवेगों का निकास सेक्स में न हो पाया हो, उनका निकास हिंसा में होता है। यह भी आशा की जा सकती है कि आज की युवा पीढ़ी अधेड़ आयु की होगी तो यह अपनी युवावस्था के आचरण को नहीं भूलेगी और उन यौन परीक्षणों के प्रति सहनशील होगी जो कि गोपनीयता की आवश्यकता के कारण आजकल सम्भव नहीं है।

१. मॉलिनफ़्सकी सेक्सुअल लाइफ़ ऑफ़ सेवेजेज, पृष्ठ ७३।

इंगलैण्ड में भी स्थिति लगभग वैसी ही है जैसी कि अमेरिका में, यद्यपि मद्य-निषेध के न होने और मोटरकारों की कमी के कारण इसका रूप अमेरिका के समान उग्र नहीं हो पाया है। मैं समझता हूँ कि इंगलैण्ड और योरुप में तो निश्चय ही यह प्रथा बहुत कम है कि अन्तिम तोष प्राप्त किए बिना ही यौन उत्तेजना बनी रहे। और सब बातों को देखते हुए कुछ लोगों को छोड़, इंगलैण्ड के सभी सम्भ्रांत व्यक्ति सामान्यतया अपने अमेरिकी सवर्ग की अपेक्षा कम उत्साह से युवकों के पीछे पड़े रहते हैं। जो भी हो, दोनों देशों के बीच अन्तर केवल मात्रा का है।

जज बेन बी० लिड्से ने, जो कई वर्ष तक डेनवेर में बाल-अपराधियों के मामलों को सुनने वाले न्यायालय के न्यायाधीश थे और जिन्हें उस स्थिति में तथ्य जानने का अपूर्व अवसर प्राप्त था, एक नयी संस्था का सुझाव दिया है जिसे उन्होंने "साहचर्य-विवाह" का नाम दिया है। दुर्भाग्यवश, वे सरकारी पदवी से च्युत हो चुके हैं, क्योंकि जब यह पता चला कि वे युवा लोगों को अपने पाप से अवगत कराने के स्थान पर उनके सुख का सम्वर्धन करते थे तो कू क्लुक्स क्लान और कैथॉलिकों ने मिलकर उन्हें पदच्युत करवा दिया। साहचर्य-विवाह विवेकशील परन्तु परम्परानिष्ठ व्यक्ति का सुझाव है। यह इस बात का प्रयत्न है कि युवा पीढ़ी के आज के अबाध यौन सम्बन्धों में थोड़ी स्थिरता लाई जाये। उन्होंने इस स्पष्ट तथ्य की ओर ध्यान दिलाया है कि युवा व्यक्तियों को विवाह से रोकने वाली वस्तु धनाभाव है और यह कि विवाह में धन की आवश्यकता कुछ तो इस कारण पड़ती है कि बच्चे होते हैं और कुछ इसलिए भी कि पत्नी के लिए यह ठीक नहीं कि वह अपनी आजीविका स्वयं कमाए। उनका विचार है कि युवा लोगों को एक नए प्रकार का विवाह कर सकने योग्य होना चाहिए जो कि तीन विशेषताओं के कारण साधारण विवाह से भिन्न होगा। पहली यह है कि कुछ समय तक सन्तानोत्पत्ति का कोई इरादा ही नहीं होना चाहिए और उसके लिए युवा दम्पति को सन्तति निरोध के सम्बन्ध में यथा सम्भव सर्वोत्तम ज्ञान दिया जाये। दूसरे जब तक बच्चे न हों और पत्नी गर्भिणी न हो, पति-पत्नी की परस्पर अनुमति से तलाक़ सम्भव होना चाहिए। और तीसरी बात यह है कि तलाक़ होने पर पत्नी को गुजारे का कोई अधिकार नहीं होना

चाहिए। उनका विचार है—और मेरी राय में ठीक ही है—कि यदि कानून द्वारा ऐसी संस्था स्थापित हो जाये तो बहुत बड़ी संख्या में युवा व्यक्ति—उदाहरण के लिए विश्वविद्यालयों के छात्र—अपेक्षाकृत स्थायी सम्बन्धों के बन्धनों में बंध जायेंगे, मिल-जुल कर रहेंगे और उनके जीवन में आज के समान यौन सम्बन्धों में अनर्गलता का तत्व नहीं रहेगा। उन्होंने ऐसा साक्ष्य दिया है जिससे स्पष्ट है कि विवाहित युवा छात्र अविवाहित छात्रों की अपेक्षा अधिक अच्छे रहते हैं। यह तो निस्सन्देह स्पष्ट है कि अर्ध स्थायी सम्बन्ध होने की दशा में काम और सेक्स का मेल, पार्टियों और मद्यपान के उद्दीपन और भाग दौड़ की अपेक्षा अधिक सुचारु रूप से हो सकता है। इस बात का कोई कारण नहीं है कि दो युवा व्यक्ति इकट्ठे रह कर उससे अधिक खर्च करेंगे जितना कि वे अलग-अलग रह कर करते थे और इस प्रकार वे आर्थिक कारण निष्प्रभावी हो जायेंगे जिन के आधार पर आजकल विवाह स्थगित कर दिया जाता है। मुझे इस बात में लेशमात्र भी सन्देह दिखाई नहीं पड़ता कि यदि जज लिड्से की योजना विधि में परिणत करदी जाये तो इसका प्रभाव बड़ा लाभकारी होगा और ऐसा प्रभाव होगा कि नैतिकता की दृष्टि से सभी इसे अच्छा मानेंगे।

परन्तु जो भी हो, जज लिड्से के सुझावों पर सभी अधेड़ आयु के व्यक्तियों ने भय-कातर प्रतिरोध प्रकट किया और अमेरिका के सारे समाचारपत्रों ने उनका विरोध किया। यह कहा गया कि वे घर की पवित्रता पर कुठाराघात कर रहे हैं। यह कहा गया कि ऐसे विवाह को सहन करके—जिसका परिणाम तुरन्त सन्तानोत्पत्ति नहीं होगा—वे वासना को वैध बना देना चाहते हैं। यह कहा गया कि उन्होंने विवाह के बिना यौन सम्बन्धों के प्रचलन के सम्बन्ध में अतिशयोक्ति से काम लिया है; कि वे अमेरिका की सती-साध्वी स्त्री जाति को बदनाम कर रहे हैं और यह कि अधिकतर व्यापारी तीस या पैंतीस वर्ष की आयु तक बड़े मज़े में संयमी रहते हैं। ये सब बातें कही गयीं और मैं यह स्वीकार कर लेता हूँ कि इन बातों को कहने वालों में कुछ ऐसे लोग थे, जिन्हें इन पर सचमुच विश्वास था। मैंने जज लिड्से के विरुद्ध बहुत-सी कटु बातें सुनीं और मेरी राय यह बनी कि जिन तर्कों को निर्णायक समझा जाता था, वे दो ही थे।

पहला यह कि ईसा जज लिंड्से के सुझावों का कभी अनुमोदन न करते और दूसरा यह कि अमेरिका के अधिक उदार धर्म गुरुओं को भी उनके सुझाव पसन्द नहीं थे। इस दूसरे तर्क को अधिक वज़नदार माना जा रहा था और सच ही है, क्योंकि पहला तर्क तो कोरा काल्पनिक है और उसे पुष्ट नहीं किया जा सकता। मैंने किसी व्यक्ति को ऐसा तर्क देते नहीं सुना जिसमें भूले से भी यह प्रमाणित करने की चेष्टा की गई हो कि जज लिंड्से के सुझावों से मानवीय सुख कम हो जायेगा। सच तो यह है कि मुझे इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए विवश होना पड़ा कि परम्परानिष्ठ नैतिकता का पक्ष लेने वालों की दृष्टि में मानवीय सुख का महत्व बिलकुल नहीं है।

मुझे विश्वास है कि साहचर्य-विवाह ठीक दिशा में उठाया गया क़दम होगा और इससे काफ़ी लाभ होगा। परन्तु मैं समझता हूँ कि यह पर्याप्त नहीं है। मेरा विचार है कि जिन यौन-सम्बन्धों के फलस्वरूप सन्तानोत्पत्ति न हो, उन्हें सर्वथा व्यक्तिगत मामला समझना चाहिए और यदि कोई स्त्री-पुरुष बिना सन्तान उत्पन्न किए इकट्ठे रहना चाहते हों तो उसमें किसी का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए वरन् यह उनका व्यक्तिगत मामला समझा जाना चाहिए। मैं इस बात को वांछनीय नहीं मानूंगा कि कोई पुरुष या कोई स्त्री पहले से यौन-सम्बन्धी अनुभव प्राप्त किए बिना सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य से किए जाने वाले विवाह जैसे गम्भीर सम्बन्ध में बँधे। यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त मात्रा में साक्ष्य मौजूद है कि सेक्स का पहला अनुभव किसी ऐसे व्यक्ति के साथ होना चाहिए जिसे पहले से इस बारे में कोई ज्ञान हो। मानवों में यौन क्रिया (मैथुन) सहजवृत्तिमूलक नहीं है, और स्पष्ट है कि यह कभी सहजवृत्तिमूलक रही भी नहीं। और इस तर्क के अतिरिक्त, लोगों से यह कहना बेतुकी-सी बात है कि वे सेक्स की दृष्टि से एक दूसरे की अनुरूपता के सम्बन्ध में कुछ जाने बिना ही ऐसे सम्बन्ध में बंध जायें जो आजीवन रहेगा। यह बात उतनी ही बेतुकी है जितना कि किसी व्यक्ति से यह कहना कि वह जिस मकान को खरीदना चाहता है, उसे खरीदने से पहले न देखे। यदि आप विवाह के जीवशास्त्रीय कृत्य को भली भाँति मान्यता देते हैं तो उचित बात यही है कि आप कहें कि पत्नी के पहले गर्भाधान तक कोई भी विवाह काननी रूप से बाध्य-

कारी नहीं होगा। आजकल विवाह तभी निष्ठप्रभावी माना जाता है जब कि मैथुन असम्भव हो, परन्तु विवाह का सच्चा प्रयोजन तो बच्चे हैं मैथुन नहीं। और इसलिए जब तक बच्चों की आशा न हो, विवाह को सम्पन्न हुआ नहीं मानना चाहिए। यह विचार कम-से-कम आंशिक रूप में इस बात पर आधारित है कि गर्भ-रोधकों के कारण सन्तानोत्पत्ति और सिर्फ सेक्स एक दूसरे से अलग हो गए हैं। गर्भ-रोधकों ने सेक्स और विवाह का सारा स्वरूप ही बदल दिया है और इस कारण वे भेद आवश्यक हो गए हैं, जिनकी पहले उपेक्षा की जा सकती थी। स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध केवल सेक्स के प्रयोजन से हो सकते हैं जैसा कि वेश्या-गमन में, या साहचर्य में जिसमें यौन तत्व भी होगा जैसे कि जज लिड्से द्वारा प्रस्तावित साहचर्य-विवाह में, और या सन्तानोत्पत्ति करके परिवार बढ़ाने के लिए। ये सब एक दूसरे से भिन्न हैं और आधुनिक परिस्थितियों में कोई भी ऐसी नैतिकता पर्याप्त नहीं हो सकती जिसमें इनमें परस्पर भेद न किया जाये और सभी को बिना भेदभाव के एक पुंज में इकट्ठे कर दिया जाये।

आज के युग का परिवार

पाठक अब तक यह भूल चुके होंगे कि अध्याय २ और ३ में हमने मातृ-वंशक और पितृसत्तात्मक परिवारों पर विचार किया था और यह देखा था कि यौन नैतिकता के सम्बन्ध में प्रारम्भ कालीन दृष्टिकोण पर उनका क्या प्रभाव पड़ा। अब हमें परिवार पर फिर से विचार करना है क्योंकि परिवार ही एक विवेक संगत आधार है जिसके कारण हम यौन स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगा सकते हैं। हम सेक्स और पाप के सम्बन्ध में लम्बे आख्यान के बाद हम फिर अपने विषय की ओर लौट रहे हैं। सेक्स और पाप के सम्बन्ध का आविष्कार ईसाई आदि-गुरुओं ने नहीं किया था परन्तु उन्होंने इससे अधिकाधिक लाभ उठाया और आज हम में से अधिकतर लोगों की निजी नैतिक कसौटी में यही बात निहित है। मैं इस धार्मिक विचार की अधिक चर्चा नहीं करूंगा कि सेक्स में कोई बुरी बात है जिसे हटाने के लिए यह आवश्यक है कि विवाह और सन्तान की इच्छा का परस्पर सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाये। अब हमें इस विषय पर विचार करना है कि बच्चों के हित में सेक्स-सम्बन्धों की स्थिरता कहां तक आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, हमें यह स्थायी विवाह के कारण के रूप में परिवार पर विचार करना है। यह प्रश्न सरल नहीं है। यह स्पष्ट है कि बच्चे को परिवार के सदस्य के रूप में जो लाभ होता है वह इस बात पर निर्भर है कि इसका विकल्प क्या है। लब्धक शिशुओं के लिए ऐसी उत्तम संस्थाएं हा सकती हैं कि जो सम्भवतः अधिकतर कुटुम्बों की तुलना में अधिक अच्छी होंगी। हमें यह भी सोचना है कि परिवार के जीवन में पिता का कृत्य आवश्यक है या नहीं, क्योंकि उसी के कारण स्त्रियों का सतीत्व परिवार के लिए आवश्यक माना गया है। हमें यह भी देखना

है कि परिवार का बच्चे की मनोवृत्ति पर क्या प्रभाव पड़ता है—इस विषय पर फ्रायड ने तनिक विकृत ढंग से विचार किया है। हमें देखना है कि अर्थ प्रणालियों के प्रभाव के कारण पिता का महत्व घटता है या कि बढ़ता है। हमें अपने आप से पूछना है कि क्या हम यह जानते हैं कि पिता का, बल्कि सम्भवतः, जैसे कि प्लेटो ने सुझाव दिया था, माता-पिता दोनों का स्थान राज्य ग्रहण कर ले। और यह मान लीजिए कि हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि साधारण मामलों में, बच्चे के समुचित परिवेश के लिए माता और पिता दोनों आवश्यक हैं, तो हमें उन बहुत से उदाहरणों पर विचार करना होगा जहां कि माता या पिता, अपने कर्त्तव्य निभाने के अयोग्य हैं, और या दोनों में अनुरूपता का इतना अभाव है कि बच्चे के हित में दोनों का अलग हो जाना वांछनीय है।

जो लोग धार्मिक आधार पर यौन स्वतन्त्रता का विरोध करते हैं. वे बहुधा यह तर्क देते हैं कि तलाक़ बच्चों के हित के विरुद्ध है। परन्तु जब धर्मनिष्ठ लोग इसी तर्क का उपयोग करते हैं तो यह सच्चा नहीं होता; यह इस बात से स्पष्ट है कि जब माता-पिता में से एक को उपदंश हो और बच्चों को भी यह रोग होने की आशंका हो, तो भी ये लोग तलाक़ या गर्भरोधकों के प्रयोग को सहन नहीं करेंगे। इस प्रकार के मामलों से स्पष्ट है कि जब कोई नन्हे-मुन्हे बच्चों के हितों का रोना रोता है और अपने तर्क को चरम सीमा तक पहुँचा देता है, तो यह नृशंसता को छिपाने का आवरण मात्र रह जाता है। विवाह से बच्चों के हित के सम्बन्ध के सारे प्रश्न पर बिना पूर्वधारणाओं के विचार करना होगा। यह समझ लेना होगा कि इस प्रश्न का उत्तर प्रारम्भ में ही स्पष्ट नहीं है। यहां संक्षेप में कही गयी बातों को दोहरा दिया जाये तो अच्छा होगा।

परिवार मानव-पूर्व संस्था है, जिसे जीवशास्त्र की दृष्टि से केवल इसलिए उचित कहा जा सकता है कि गर्भावस्था और बच्चे के दूध पीते रहने तक पिता का सहयोग रहे तो उसके जीवित रहने में सहायता मिलती है। परन्तु जैसे कि हमने ट्रब्रियांड द्वीप के निवासियों के सम्बन्ध में देखा और जैसे कि हम मानव-पूर्व वानरों के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकाल सकते हैं, आदिकालीन परिस्थितियों में यह सहायता उन कारणों से प्रेरित होकर नहीं दी जाती, जो सभ्य समुदायों

में पिता के लिए प्रेरक का काम देते हैं। आदिकालीन पिता को पता ही नहीं कि बच्चे का उसके साथ कोई जीवशास्त्रीय सम्बन्ध है ; बच्चा तो उस स्त्री का है, जिससे उसे प्यार है। वह इस तथ्य को जानता है क्योंकि उसने बच्चे को जन्म लेते देखा है और यही तथ्य है जिसके कारण उसके साथ बच्चे का सहज-वृत्तिमूलक सम्बन्ध जन्म लेता है। इस दौरमें उसे अपनी पत्नी के सतीत्व की रक्षा करने का जीवशास्त्रीय महत्व दिखाई नहीं देता। हां, इस बात में सन्देह नहीं कि यदि पत्नी उससे बेवफ़ाई करे और उसे पता चल जाये तो वह ईर्ष्या का अनुभव करता है, जो कि सहजवृत्तिमूलक होती है। इस दौर में वह बच्चे को सम्पत्ति के रूप में नहीं देखता। बच्चा उसकी पत्नी और पत्नी के भाई की सम्पत्ति होता है, परन्तु बच्चे के साथ स्वयं उसका सम्बन्ध केवल स्नेह का है।

परन्तु प्रज्ञा के विकास के साथ ही मानव को कभी न कभी अच्छे और बुरे का ज्ञान हो जाना अवश्यंभावी था। उसे पता चल जाता है कि बच्चा उसी के बीज से उत्पन्न है और इसलिए उसे अपनी पत्नी के सतीत्व के बारे में पूर्ण सावधान होना पड़ता है। पत्नी और बच्चा उस की सम्पत्ति बन जाते हैं, और सम्भव है कि आर्थिक विकास के किसी विशेष स्तर पर वे बड़ी मूल्यवान सम्पत्ति माने जायें। फिर वह धर्म का सहारा लेता है जिससे कि वह अपने बच्चों और पत्नी को, अपने प्रति उनके जो कर्त्तव्य हैं उनसे अवगत करा सकें। बच्चों के सम्बन्ध में इस बात का महत्व विशेष रूप से है क्योंकि जब तक वे बड़े नहीं होते, तब तक वह उन से अधिक शक्तिशाली होता है। लेकिन ऐसा समय भी आता है जब उसका शरीर जीर्ण हो जाता है और बच्चे पौरुष की चरम सीमा पर होते हैं। इस दौर में उसके सुख के लिए यह आवश्यक है कि बच्चे उसका आदर करें। इस विषय पर धर्माज्ञा बड़े छलयुक्त ढंग से लिखी गयी है। यह होनी तो इस प्रकार चाहिए: "अपने माता-पिता का आदर करो जिससे कि वे इस धरती पर अधिक दिन तक जी सकें।" आदि-सभ्यता में गुरुजनों की हत्या को बहुत बुरा माना जाता था और इससे यह आभास होता है कि इस प्रलोभन को दबाना बड़ा कठिन था। यह इसलिए कि जो अपराध करने की हम कल्पना भी नहीं

कर सकते—जैसे मानवीय मांस खाना—उसकी बात सुन कर हमारे मन में वास्तविक जुगुप्सा उत्पन्न नहीं होती।

परिवार प्रारम्भिक पशुपालक और कृषक समुदायों की आर्थिक परिस्थितियों के कारण पूर्णतया फलीभूत हुआ। अधिकतर लोगों को श्रम करने के लिए दास नहीं मिलते थे और इसलिए मज़दूर प्राप्त करने का सबसे सरल उपाय यही था कि उन्हें पैदा किया जाये। यह बात निश्चित करने के लिए कि वे अपने पिता के लिए काम करें, यह आवश्यक था कि धैर्य और नैतिकता के सम्पूर्ण प्रभाव का प्रयोग कर परिवार को पवित्र बना दिया जाये। धीरे-धीरे, ज्येष्ठाधिकार के कारण, परिवार की एकता आधुनिक शाखाओं तक पहुँच गयी और इस प्रकार कुलपिता की शक्ति और भी बढ़ गयी। राजतंत्र और अभिजाततंत्र आवश्यक रूप से इसी विचार-व्यवस्था पर आधारित हैं; बल्कि देवतन्त्र भी इसी पर आधारित है जैसा कि इस बात से प्रकट है कि ज़ीग्रस को देवों और मानवों का पिता कहा जाता है।

यहां तक तो सभ्यता के विकास के कारण परिवार की शक्ति बढ़ रही थी। लेकिन इस के बाद विपरीत प्रगति हुई है और यह दशा हो गयी है कि पश्चिमी जगत में तो परिवार अपने पहले रूप का शतांश भी नहीं रहा है। जिन कारणों से परिवार का ह्रास हुआ, उनमें से कुछ तो आर्थिक थे और कुछ सांस्कृतिक। अपने चर्मोत्कर्ष में परिवार न तो नागरिक लोगों के लिए उपयुक्त रहा है और न उन लोगों के लिए जो कार्यवशात् समुद्रों में इधर से उधर यात्रायें करते हैं। हमारे युग को छोड़, बाकी सभी युगों में वाणिज्य संस्कृति का मुख्य कारण रहा है, क्योंकि वाणिज्य के द्वारा लोग दूसरी जातियों के रस्मो-रिवाज के सम्पर्क में आए हैं और इस प्रकार अपने कबीले की पूर्वधारणाओं से मुक्त हुए हैं। यही कारण है कि हम देखते हैं कि समुद्र-यात्राओं में व्यस्त यूनानी अपने समकालीन दूसरे समुदायों की अपेक्षा परिवार के कम अधीन थे। समुद्र के उन्मुक्त बना देने वाले प्रभाव के अन्य उदाहरण वेनिस, हॉलैंड और एलिज़बेथ प्रथम के काल के इंग्लैण्ड में मिलते हैं। परन्तु यह बात हमारे विषय से बाहर की है। हमारा सम्बन्ध यहां केवल इस बात से है कि जब परिवार का एक सदस्य समुद्र

की लम्बी यात्रा पर चला गया और बाकी सदस्य घर पर ही रहे तो इसका अनिवार्य परिणाम यही हुआ कि वह परिवार के नियंत्रण से मुक्त हो गया और उसी अनुपात से परिवार का प्रभुत्व कम हो गया। ग्रामीण लोगों का गांव छोड़ कर नगरों में आ जाना भी—जो कि सभी उदीयमान सभ्यताओं की विशिष्टता रही है—परिवार को उसी प्रकार दुर्बल बना देता है जैसे कि नौ-वाणिज्य। एक और प्रभाव जो समाज के निम्न स्तर पर सम्भवतः और भी अधिक महत्वपूर्ण था, दासता का था। मालिक को अपने दासों के पारिवारिक सम्बन्धों का तनिक भी ध्यान नहीं था। जब भी उसका जी चाहता, वह पतियों को पत्नियों से अलग कर सकता था और जो भी दासी उसे अच्छी लगती उसके साथ मैथुन भी कर सकता था। यह सच है कि इन प्रभावों के कारण अभिजात परिवारों में दुर्बलता नहीं आई, क्योंकि ये प्रतिष्ठा की कामना के कारण बने रहे और कुछ इस कारण कि मांटेगो–और–कापुलेट (शेक्सपीयर के नाटक 'रोमियो जूलियट' के दो पात्र) संघर्ष में विजय प्राप्त करने की इच्छा बनी रही। प्राचीन नागरिक जीवन के समान मध्य युग के बाद के काल में इटली में और जागरण युग में भी इस प्रकार के संघर्ष जारी रहे। परन्तु अभिजाततन्त्र का महत्व रोम-साम्राज्य की पहली शताब्दी में समाप्त हो गया और अन्त में ईसाई धर्म की विजय हुई, जो कि प्रारम्भ में दासों और सर्वहारा वर्ग का धर्म था। इसमें सन्देह नहीं कि उन सामाजिक वर्गों में परिवार के दुर्बल हो जाने से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ में ईसाई धर्म परिवार का कुछ विरोधी ही था और उसने जिस आचारशास्त्र का निर्माण किया उसमें बौद्धमत को छोड़ अन्य पुराने आचारशास्त्रों की अपेक्षा परिवार का स्थान बहुत कम था। ईसाई धर्म के आचारशास्त्र में महत्व मानव के अन्य मानवों के साथ सम्बन्धों का नहीं बल्कि आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध का है।

परन्तु बौद्ध मत को देखकर हमें यह शिक्षा मिलती है कि इस बात पर अत्यधिक जोर नहीं देना चाहिए कि धर्म आर्थिक कारणों से जन्म लेता है। मुझे भारत की उस काल की परिस्थितियों का इतना ज्ञान नहीं जब वहां बौद्ध मत का प्रसार हुआ कि मैं यह बता सकूं कि उसमें व्यक्ति की आत्मा पर

जो बल दिया जाता है, उसके आर्थिक कारण क्या हैं। वल्कि मुझे तो इस वात में सन्देह है कि ऐसे कारण थे भी या नहीं। ऐसा लगता है कि भारत में जिस काल में बौद्धमत का ज़ोर रहा, मुख्यतया यह राजाओं का ही धर्म रहा और यह आशा की जानी चाहिए कि अन्य वर्गों की अपेक्षा राजाओं पर परिवार सम्बन्धी विचारों का अधिक प्रभाव रहा होगा। जो भी हो, संसार से विरक्ति और मोक्ष की खोज साधारण वात वन गयी जिसका परिणाम यह हुआ कि बौद्ध नैतिकता में परिवार का स्थान अत्यधिक गौण है। मुहम्मद और कनफ़्यूशसको —यदि उसे धार्मिक नेता मान लिया जाये तो—छोड़ सभी महान् धार्मिक नेताओं ने सामाजिक विचारों की सामन्यतया उपेक्षा की है; वल्कि उनकी चेष्टा सदा यह रही है कि चिन्तन, अनुशासन और त्याग द्वारा आत्मा को उदार वनाया जाये। इतिहास के आरम्भ में जिन धर्मों का अस्तित्व था, उनके विपरीत, इतिहास के वाद में उदय होने वाले धर्म कुल मिला कर व्यक्तिवादी रहे हैं और उनमें यह धारणा प्रवृत्त रही है कि मानव अपने दूसरे कर्त्तव्य एकान्त में निभा सकता है। निस्सन्देह उन्होंने ज़ोर दिया है कि यदि किसी व्यक्ति के सामाजिक सम्वन्ध हों तो वह इन सम्वन्धों के वारे में उन कर्त्तव्यों को निभाए जो कि सर्वमान्य हैं। परन्तु साधारणतया उन्होंने इन सम्वन्धों के वनाए जाने को तो कर्त्तव्य नहीं माना है। ईसाई धर्म के सम्वन्ध में वह वात विशेष रूप से सच है और इसमें परिवार के प्रति जो दृष्टिकोण रहा है, उसमें परस्पर विरोधी तत्वों का समावेश सदा से रहा है। हम वाइवल में पढ़ते हैं "जो भी अपने पिता या माता को मुझ से अधिक प्रेम करता हैं, वह मेरे योग्य नहीं" और इसका वास्तविक अर्थ यह है कि व्यक्ति को वही काम करना चाहिए जिसे वह ठीक समझता हो, चाहे उसके माता-पिता उसे ग़लत मानतें हों। प्राचीन रोम का या चीन का पुराने ढंग का कोई भी व्यक्ति इस विचार से सहमत नहीं होगा। ईसाई धर्म में व्यक्तिवाद के इस तत्व का प्रभाव धीरे-धीरे हुआ है परन्तु इसके कारण सभी सामाजिक सम्वन्ध क्रमशः—विशेषकर वे जिन्हें वड़ी पावन्दी से पालन करने में तत्परता–रही दुर्वल पड़ गए हैं। यह प्रभाव प्रोटेस्टेंटवाद की अपेक्षा कैथॉलिकवाद में कम दिखाई पड़ता है, क्योंकि प्रोटेस्टेंटवाद में इस सिद्धान्त का

अराजकतावादी तत्व आगे आ गया कि हमें मानव की बजाय ईश्वर की आज्ञा का पालन करना चाहिए। व्यवहार में, ईश्वर की आज्ञा का पालन करने का अर्थ है अपनी अन्तरात्मा के अनुसार चलना और व्यक्तियों की अन्तरात्माएं भिन्न हो सकती हैं। इसलिए यह भी आवश्यक है कि कभी-कभी विधि और अन्तरात्मा में संघर्ष होगा और समय सच्चा ईसाई उस व्यक्ति का आदर करने पर विवश हो जायगा, जो कानून की आज्ञा का पालन करने की वजाय अपनी अन्तरात्मा के अनुसार चलता है।[1] प्रारम्भिक सभ्यता में पिता ईश्वर था, ईसाई धर्म में ईश्वर पिता है, जिसका परिणाम यह है कि मानव पिता का अधिकार कम हो जाता है।

हाल ही के काल में परिवार का ह्रास, निस्सन्देह, मुख्यतया औद्योगिक क्रान्ति के कारण हुआ है। परन्तु क्रान्ति होने के पहले से ही यह ह्रास प्रारम्भ हो चुका था और प्रारम्भ में इसकी प्रेरणा व्यक्तिवाद के सिद्धान्त से मिली थी। युवा लोग अपने इस अधिकार पर वल देते थे कि उन्हें माता-पिता की आज्ञा के अनुसार नहीं वरन् अपनी इच्छा के अनुकूल विवाह करना है। विवाह के पश्चात् पुत्र की पिता के घर रहने की आदत धीरे-धीरे समाप्त हो गई। पुत्रों में यह बात आम हो गई कि वे अपनी शिक्षा-दीक्षा समाप्त होते ही घर छोड़ कर आजीविका कमाने चल देते थे। जब तक छोटे बच्चे कारखानों में काम सकते थे, वे अत्यधिक काम के कारण मर जाने तक अपने माता-पिता के लिए आजीविका के साधन बने रहे; परन्तु कारखाना अधिनियमों के पास हो जाने पर इस प्रकार के शोषण पर जीवित रहने वालों के विरोध के वावजूद इस का अन्त हो गया। बच्चे आजीविका का साधन नहीं रहे, वल्कि आर्थिक वोझ वन गए। इसी समय गर्भरोधकों का ज्ञान हुआ और जन्म-दर में कमी प्रारम्भ हो गई। यह विचार बहुत सीमा तक ठीक है कि सभी युगों में साधारण पुरुष उतने ही बच्चे पैदा करता था, जिनसे उसे लाभ हो सकता हो; कम या अधिक नहीं।

---

१. इस का एक उदाहरण यह है कि युद्ध काल में लार्ड ह्यू सेसिल ने उन लोगों के प्रति नरमी दिखाई जो सिद्धान्त रूप में युद्ध के विरोधी होने के कारण अनिवार्य भरती के विरुद्ध थे।

जो भी हो, आस्ट्रेलिया के आदिवासियों, लंकाशायर में रूई का काम करने वालों और ब्रिटेन के सामन्तों के सम्बन्ध में यह बात अवश्य सच है। मैं यह नहीं कहता कि सैद्धान्तिक दृष्टि से इस दृष्टिकोण को बिल्कुल ठीक कहा जा सकता है परन्तु यह सच्चाई से उतना दूर नहीं है जितना कि इसे समझा जाता है।

आधुनिक युग में परिवार अपने अन्तिम गढ़ में हैं और यहां भी राज्य के कार्य के कारण इसकी स्थिति दुर्बल हो गई है। जिन दिनों परिवार का बोल बाला था, तब परिवार का एक कुलपिता होता था। कई वयस्क बेटे होते थे, इनकी पत्नियाँ और बच्चे—सम्भवत: उनके बच्चों के बच्चे भी—होते थे, जो एक ही मकान में इकट्ठे रहते थे। एक आर्थिक ईकाई की तरह परस्पर सहयोग करते थे और बाह्य संसार के विरुद्ध उसी प्रकार संगठित हो जाते थे जिस प्रकार कि आज के युग में सैनिक राष्ट्र के नागरिक संगठित होते हैं। आज कल परिवार घट कर माता-पिता और उनके छोटे बच्चों तक ही सीमित रह गया है। बल्कि छोटे बच्चे भी राज्य की आज्ञा के अनुसार अधिकतर समय स्कूल में बिताते हैं और वह शिक्षा पाते हैं जो राज्य उनके लिए अच्छी समझता हैं न कि वह जो कि उनके माता-पिता चाहते हैं। (परन्तु किसी अंश तक धर्म इसका अपवाद है।) रोम साम्राज्य कालीन पिता की तरह बच्चे के जीवन-मरण का अधिकारी होना तो दूर रहा, यदि ब्रिटिश पिता अपने बच्चे से वैसा व्यवहार करे जैसा कि आज से सौ वर्ष पहले के अधिकतर पिता नैतिक लालन-पालन के लिए आवश्यक समझते थे, तो उस पर क्रूरता के आरोप में अभियोग चलाया जा सकता है। राज्य बच्चों के लिए चिकित्सा और उनके दांतों की देख-रेख का प्रबन्ध करता है और यदि उनके माता-पिता निर्धन हों तो उनके लिए भोजन की व्यवस्था भी राज्य ही करता है। इस प्रकार पिता के कर्त्तव्य न्यूनतम रह गए हैं क्योंकि राज्य ने उन्हें संभाल लिया है। सभ्यता की प्रगति के साथ ऐसा होना अनिवार्य ही था। प्रारम्भिक दशा में आर्थिक कारणों से पिता आवश्यक था, जैसे कि वह पक्षियों और मानव-पूर्व वानरों में था, ताकि वह बच्चों और उनकी मां को हिंसा से बचा सके। यह कर्त्तव्य बहुत दिनों पहिले से राज्य ने संभाल

लिया है। अब पिता-रहित बच्चे की हत्या होने की सम्भावना भी उतनी ही कम है जितनी कि उस बच्चे की जिसका बाप जीवित हो। धनाढ्य वर्गों में, पिता का आर्थिक कर्त्तव्य उस दशा में अधिक सुचारु रूप से पूरे किए जा सकते हैं जब कि वह मर चुका हो क्योंकि तब वह अपना धन बच्चों के लिए छोड़ जाता है और उसका प्रयोग अपने भरण-पोषण के लिए नहीं करता। जो लोग कमाए हुए धन पर निर्भर हैं उनमें आर्थिक दृष्टि से पिता का होना उपयोगी है। परन्तु जहां तक वेतन भोगी वर्गों का सम्बन्ध है पिता की उपयोगिता निरन्तर कम होती जा रही है। इसका कारण यह है कि समुदाय में मानवोचित भावना विद्यमान है जिस के कारण इस बात पर बल दिया जाता है कि चाहे बच्चे का पिता न हो, उसकी कुछ न कुछ देख-रेख अवश्य होनी चाहिए। आजकल पिता का सबसे अधिक महत्व तो मध्यवर्ग में है, क्योंकि जब तक वह जीवित रहता है और अच्छी आय कमाता है तब तक उसके बच्चों को यह लाभ रहता है कि वे बढ़िया शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं, जिसके कारण वे अपना आर्थिक और सामाजिक स्तर बनाए रख सकते हैं। परन्तु यदि उसका देहान्त हो जाये और बच्चे अभी छोटी आयु के ही हों, तो इस बात की बड़ी सम्भावना रहती है कि उनका सामाजिक स्तर गिर जायेगा। परन्तु जीवन-बीमा की प्रथा के कारण इस स्थिति में जोखिम काफ़ी कम हो गया है और इस साधन से वृत्ति-भोगी वर्गों में भी विवेकशील पिता अपनी उपयोगिता कम करने के लिए बहुत कुछ कर सकता है।

आधुनिक संसार में अधिकतर पिताओं को इतना काम रहता है कि वे अपने बच्चों के साथ अधिक नहीं रह पाते। सवेरे उन्हें काम पर जाने के लिए तैयार होना पड़ता है, इसलिए वे बच्चों के साथ हंस-बोल नहीं सकते; और संध्या समय जब वे घर लौटते हैं तो बच्चे सो रहे होते हैं (या उस समय तक उन्हें सो जाना चाहिए।) आप ऐसी बातें सुनते ही होंगे कि बच्चे अपने पिता के सम्बन्ध में केवल यही जानते हैं "वह पुरुष जो सप्ताह के अन्त में घर आता है।" बच्चों के लालन-पालन के गम्भीर काम में पिता बहुत कम सहयोग दे सकते हैं। और सच तो यह है कि इस कर्त्तव्य को मां निभाती है या शिक्षा देने वाले अधिकारी। यह सच

है कि इस बात के होते हुए भी कि पिता अपने बच्चों के साथ बहुत कम समय बिता पाता है, उसे इन से प्रगाढ़ स्नेह अवश्य होता है। आप किसी भी इतवार को लन्दन के निर्धन वर्गों की बस्तियों में देखेंगे कि पिता अपने छोटे बच्चों के साथ होते हैं और उन्हें जान पाने के संक्षिप्त-से अवसर का आनन्द उठा रहे होते हैं। परन्तु पिता के दृटिकोण से चाहे जो भी दशा हो, बच्चे के दृष्टिकोण से तो पिता के साथ उसका सम्बन्ध खेल मात्र का है जिसका कोई गम्भीर महत्व नहीं है।

उच्च और वृत्तिजीवी वर्गों में तो यह प्रथा है कि बच्चा छोटा हो तो नर्सों की देख-रेख में रहता है और बड़ा होने पर उसे छात्रावास में भेज दिया जाता है। मां नर्स को चुनती है और पिता यह निर्णय करता है कि वह किस स्कूल में पढ़ेगा और इस प्रकार वे सन्तान पर अपने अधिकार की भावना बनाए रखते हैं, जिसका मज़दूर वर्ग के माता-पिता में अभाव रहता है। परन्तु जहां तक मां-बच्चे के परस्पर निकट सम्पर्क का सम्बन्ध है, वेतन भोगी वर्ग की अपेक्षा धनाढ्य वर्ग में साधारणतया यह सम्पर्क कम होता है। छुट्टियों में पिता का बच्चों के साथ सम्बन्ध खेलने तक ही सीमित है, परन्तु उनकी शिक्षा में उसका योग उतना ही है जितना कि मज़दूर वर्ग के पिता का। इसमें सन्देह नहीं कि आर्थिक दायित्व उस पर होता है और उसे यह निर्णय करने का अधिकार है कि उसके बच्चों की शिक्षा कहां पर होगी ; परन्तु उनके साथ उसका व्यक्तिगत सम्पर्क साधारणतया कुछ अधिक हार्दिक नहीं होता।

जब बच्चा किशोरावस्था में पहुँचता है तो माता-पिता के साथ उसका संघर्ष होने की सम्भावना रहती है, क्योंकि वह समझता है कि मैं अब अपनी समस्याएं स्वयं निबटा सकता हूँ। लेकिन माता-पिता को उसके हितों की चिन्ता होती है, जो कि बहुधा शक्ति-प्रेम का ही दूसरा रूप होती है। मां-बाप साधारणतया यह सोचते हैं कि किशोरावस्था में जो विभिन्न नैतिक समस्याएं उठती हैं, वे विशेषतया उन्हीं के अधिकार-क्षेत्र में हैं। परन्तु वे जो विचार प्रकट करते हैं वे इतने कट्टरपंथी होते हैं कि बच्चे उन्हें अपनी बात बताते ही नहीं और जो भी जी में आता है चुपके से कर लेते हैं। इसलिए यह नहीं कहा जा

सकता कि इस अवस्था में अधिकतर माता-पिता कुछ अधिक उपयोगी होते हैं।

अब तक हम आधुनिक परिवार की दुर्बलता पर ही विचार करते रहे हैं। अब हमें यह देखना है कि परिवार किन पहलुओं में अभी तक शक्तिशाली है।

आजकल परिवार का महत्व उन भावनाओं के कारण है, जो माता-पिता में इसके कारण उत्पन्न होती हैं; और दूसरे कारण इतने अधिक महत्वशाली नहीं हैं। पुरुषों और स्त्रियों में माता-पिता होने के नाते जो भावाएं उत्पन्न होती हैं, उन का—अन्य भावनाओं की अपेक्षा—अधिक महत्व इस बात में हैं कि उनमें कार्यों पर प्रभाव डालने की शक्ति है। जिन स्त्री-पुरुषों के सन्तान होती है, वे साधारणतया बच्चों को ध्यान में रख कर अपने जीवन को नियमित करते हैं। साधारण स्त्री-पुरुष यदि कुछ ढंग से स्वार्थ रहित होकर काम करते हैं तो उसका कारण बच्चे ही हैं। इन कामों में सब से निश्चित और माप्य कार्य सम्भवतः जीवन-बीमा है। सौ वर्ष पहले अर्थशास्त्र में जिस अर्थ-मानव की कल्पना की जाती थी, उसके बच्चों का उल्लेख पाठ्य-पुस्तकों में नहीं होता था। हां, अर्थशास्त्रियों की कल्पना में निस्सन्देह उसके बच्चे होते थे। और अर्थशास्त्री जिस सामान्य स्पर्धा का प्रतिपादन करते थे, वह पिताओं और पुत्रों के बीच नहीं थी। यह स्पष्ट है कि जीवन-बीमा की प्रेरणा उन प्रेरणाओं के क्षेत्र से बाहर है जिनका उल्लेख प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र में मिलता है। परन्तु मनोविज्ञान की दृष्टि से वह अर्थशास्त्र स्वाधीन नहीं था, क्योंकि सम्पत्ति की इच्छा का माता-पिता की भावनाओं के साथ गहरा सम्बन्ध है। रिवर्ज़ ने तो यहां तक लिखा है कि सारी निजी सम्पत्ति का उद्गम परिवार की भावनाएं हैं। उसने कुछ ऐसे पक्षियों का उल्लेख किया है जो केवल प्रसव के मौसम में निजी सम्पत्ति के रूप में भूमि रखते हैं परन्तु और किसी दूसरे समय नहीं। मैं समझता हूं कि अधिकतर पुरुष यह कह सकते हैं कि सन्तान होने के बाद उन्होंने सम्पत्ति का संग्रह पहले की अपेक्षा अधिक करना प्रारम्भ किया। यह प्रभाव ऐसा है जिसे साधारणतया सहजवृत्तिमूलक कहा जाता है, अर्थात् यह सहज प्रवृत्ति से उत्पन्न होता है और इसका उद्गम अर्ध चेतन मन में है। मैं समझता हूँ कि इस पहलू में परिवार का मानवता के आर्थिक विकास के लिए गणनातीत महत्व रहा है और जो लोग इतने धनाढ्य हैं कि धन बचा

सकें उनमें अब भी इसका अत्यधिक प्रभाव है।

इस प्रश्न पर पिताओं और बच्चों में परस्पर एक विचित्र ग़लतफ़हमी हो सकती है। जो पुरुष अपने व्यापार में बड़े परिश्रम से काम करता है, वह अपने निठल्ले पुत्र से कहेगा कि मैंने अपने बच्चों के लिए ही सारी आयु परिश्रम किया है। लेकिन इसके विपरीत उसका बेटा यह सोचेगा कि बाप की मौत पर सारी सम्पत्ति का अधिकारी बनने की बजाय, मुझे अब पांच का नोट और दो मीठी बातें सुनने को मिल जायें तो अच्छा है। इसके अतिरिक्त पुत्र यह देखता है कि उसका यदि बाप काम पर जाता है तो आदत के कारण, न कि इसलिए कि उसमें पिता-सुलभ स्नेह है। इसलिए पुत्र को इस बात का विश्वास होता है कि उसका बाप धूर्त्त है और पिता को भी उतना ही दृढ़ विश्वास इस बात का होता है कि उस का बेटा फ़िज़ूलख़र्च है। परन्तु बेटे का ऐसा सोचना ग़लत है और बाप के प्रति अन्याय है। वह अपने पिता को अधेड़ आयु में देखता है—जब उसकी सारी आदतें बन चुकी हैं और उन अस्पष्ट और अचेतन शक्तियों को समझ नहीं पाता जिनके कारण वे आदतें बनी हैं। सम्भव है कि पिता ने युवावस्था में निर्धनता देखी हो और सम्भव है कि जब उसका पहला बच्चा उत्पन्न हुआ हो तो उसकी सहजवृत्ति ने उसे यह शपथ लेने पर विवश किया हो कि उसने जो कुछ सहन किया है, वह उसके बच्चे को न करना पड़े। इस प्रकार का संकल्प बड़ा महत्वपूर्ण और मार्मिक है और इसलिए सचेत मन में इसे दोहराने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि दोहराने की आवश्यकता के बिना ही आचरण पर उसका सदा प्रभुत्व रहता है। यह एक पहलू है, जिसमें परिवार अभी तक बड़ी बलवती शक्ति है।

छोटे बच्चे के दृष्टिकोण से तो माता-पिता के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बात यही है कि उसे उनसे वह स्नेह प्राप्त होता है, जो उसके भाई-बहनों को छोड़ और किसी को नहीं मिलता। यह किसी अंश में बुरी बात है और किसी हद तक अच्छी। मैं अगले अध्याय में बच्चों पर परिवार के मनोवैज्ञानिक प्रभावों पर विचार करूंगा। इसलिए इस प्रश्न पर मैं इससे अधिक कुछ नहीं कहूँगा कि यह चरित्र-निर्माण में स्पष्टतया अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है और जो बच्चे अपने माता-पिता से अलग रहकर पलते हैं वे साधारण बच्चों से भिन्न होते हैं; अच्छे हों या बुरे, भिन्न

अवश्य होते हैं ।

अभिजाततांत्रिक समाज में—बल्कि किसी भी समाज में जहां व्यक्तिगत प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती हो—कुछ महत्वपूर्ण व्यक्तियों के सम्बन्ध में परिवार ऐतिहासिक अविच्छिन्नता का चिन्ह होता है । देखने से पता चलता है कि जिन व्यक्तियों का नाम **डार्विन** हो, वे उस स्थिति की अपेक्षा विज्ञान में अधिक अच्छा काम कर सकते हैं, जबकि बचपन में ही उनका नाम बदल कर **स्नूक्स** रख दिया गया हो । मैं समझता हूँ कि यदि कुलनाम पुरुषों के स्थान पर स्त्रियों के नाम के आधार पर होते तो भी इस प्रकार के प्रभाव उतने ही शक्तिशाली होते जितने कि आज हैं । इस प्रकार के मामलों में यह कहना असम्भव है कि आनुवंशिकता का कितना अंश है और परिवेश का कितना । परन्तु मुझे विश्वास है कि उस तत्व में परिवार की परम्परा का पर्याप्त योगदान रहता है, जिसे **गाल्टन** और उसके शिष्यों ने आनुवंशिता के साथ सम्बन्धित माना है । परिवार की परम्परा के प्रभाव का एक उदाहरण वह कारण है, जिससे प्रेरित होकर **सैमुअल बटलर** ने अचेतन स्मरणशक्ति के सिद्धान्त का आविष्कार किया और आनुवंशिकता के सम्बन्ध में **लमार्क** के सिद्धान्त की तरह के ही नए सिद्धान्त की पैरवी की । कारण यह था कि कुछ पारिवारिक कारणों से प्रेरित होकर उसने चार्ल्स डार्विन के साथ मतभेद प्रकट करना आवश्यक समझा । (ऐसा लगता है कि) उसके दादा का डार्विन के दादा के साथ झगड़ा हुआ था, उसके पिता का डार्विन के पिता के साथ और इसलिए उसने डार्विन के साथ झगड़ा करना आवश्यक समझा । इसी प्रकार शॉ के पात्र मैथूज़ेला का जो रूप है वह इसी कारण है कि डार्विन और बटलर के दादा झगड़ालू स्वभाव के थे ।

गर्भरोधकों के इस युग में परिवार का सबसे अधिक महत्व सम्भवतः इस बात में है कि इसके कारण बच्चे पैदा करने की आदत बनी हुई है । यदि पुरुष को अपनी सन्तान में कोई सम्पत्ति दिखाई न दे और उसके साथ स्नेहमय सम्बन्धों का कोई अवसर न मिले तो उसे बच्चे पैदा करने का कोई लाभ ही दिखाई नहीं देगा । इसमें सन्देह नहीं कि हमारी आर्थिक संस्थाओं में तनिक परिवर्तन कर दिया जाये तो ऐसे परिवार बन सकते हैं जिनमें केवल माताएं ही हों । परन्तु मैं

इस समय ऐसे परिवारों पर विचार नहीं कर रहा हूँ, क्योंकि उनके कारण यौन सदाचार की कोई प्रेरणा नहीं मिलती। इस पुस्तक में हमारा सम्बन्ध परिवार से केवल इस रूप में है कि वह स्थायी विवाह का आधार है। सम्भव है—बल्कि मैं तो समझता हूँ कि यह असम्भाव्यता से बहुत दूर है—कि धनाढ्य वर्गों को छोड़,(यह मानते हुए कि समाजवाद धनी वर्ग को समाप्त नहीं कर देगा), पिता का अस्तित्व ही शीघ्र खतम हो जायेगा। तब स्त्रियां अपने बच्चों में किसी एक पिता को नहीं वरन् राज्य को भागी बनाएंगी। उनके बच्चे उतने ही होंगे जितने कि वे चाहेंगी और पिता की कोई भी जिम्मेवारी नहीं रहेगी। बल्कि यदि माताओं का स्वभाव यह हो कि प्रत्येक पुरुष के साथ सम्बन्ध स्थापित करतीं फिरें तो यह निश्चित करना असम्भव हो जायेगा कि उनके बच्चों का पिता कौन है। परन्तु यदि ऐसा हो गया तो पुरुषों की मनोवृत्ति और क्रियाओं में अत्यधिक परिवर्तन आ जायेगा। मैं समझता हूँ कि यह परिवर्तन उससे कहीं अधिक होगा जितना कि बहुत से लोग समझते हैं। मैं यह नहीं कह सकता कि इसका प्रभाव अच्छा होगा या बुरा। इसके कारण उनके जीवन से वह भावना निकल जायेगी कि सेक्स-प्रेम के बराबर महत्वशाली है। इसके कारण सेक्स-प्रेम बड़ा तुच्छ बन जायेगा। इसके कारण अपनी मृत्यु के बाद की किसी भी वस्तु में रुचि रखना अत्यधिक कठिन हो जायगा। पुरुष पहले की अपेक्षा कम क्रियाशील हो जायेंगे और सम्भवतः कम आयु में काम करना बन्द कर देंगे। इतिहास में उनकी रुचि कम हो जायेगी और ऐतिहासिक परम्परा की अविच्छिन्नता की भावना भी कम हो जायेगी। इसके साथ ही वह उत्कट और नृशंसतापूर्ण आवेश, जो सभ्य पुरुषों को प्रभावित करता है, अर्थात् काली जातियों के लोगों के आक्रमण से अपनी पत्नी और बच्चों की रक्षा में दिखाया जाने वाला क्रोध समाप्त हो जायेगा। मैं समझता हूँ कि इससे युद्ध की सम्भावना कम हो जायेगी और पुरुष सम्भवतः कम संग्रहशील बन जायेंगे। इस सम्बन्ध में अच्छे और बुरे प्रभावों के बीच सन्तुलन स्थापित करना सम्भव नहीं है, परन्तु यह स्पष्ट है कि ये प्रभाव बड़ गहरे और दूरगामी होंगे। इसलिए पितृसत्तात्मक परिवार का महत्व अभी तक है। हां, यह बात संदिग्ध है कि वह अधिक देर तक महत्वपूर्ण रह सकेगा।

व्यक्तिगत मनोवृत्ति में परिवार का स्थान

इस अध्याय में मैं इस बात पर विचार करना चाहता हूँ कि परिवार के सम्बन्धों का व्यक्ति के चरित्र पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस विषय के तीन अंग हैं : बच्चों पर प्रभाव, माता पर प्रभाव, और पिता पर प्रभाव। इसमें सन्देह नहीं कि इन तीनों को अलग-अलग करना कठिन है क्योंकि परिवार सु-गठित इकाई है और जिस वस्तु का प्रभाव माता-पिता पर पड़ता है, वह बच्चों पर उनके प्रभाव को भी प्रभावित करती है। जो भी हो, मैं चेष्टा करूंगा कि इस विषय के तीनों अंगों पर अलग-अलग विचार किया जाये। स्वाभाविक तो यही है कि बच्चों से प्रारम्भ किया जाये क्योंकि मां या बाप बनने से पहिले प्रत्येक व्यक्ति परिवार में बच्चा ही होता है।

यदि हम फ्रायड की बात को सच मान लें तो यह देखेंगे कि परिवार के सदस्यों के प्रति छोटे बच्चों की भावनाएं निराशामय होती हैं। लड़का अपने पिता से घृणा करता है क्योंकि वह उसे सेक्स की दृष्टि से अपना प्रतिस्पर्धी मानता है। अपनी मां के सम्बन्ध में उसे ऐसी भावनाओं की अनुभूति होती है, जिन्हें परम्परानिष्ठ नैतिकता में अत्यन्त कुत्सित माना जाता है। उसे अपने भाई-बहिनों से घृणा होती है क्योंकि माता-पिता के स्नेह में उसके साझी बन जाते हैं और वह चाहता है कि सारा स्नेह उसी को मिले। बाद के जीवन में इस प्रकार के उद्वेलनकारी आवेशों के प्रभाव विभिन्न और डरावने होते हैं—कम बुरे हों तो समलिंग व्यभिचार में प्रकट होते हैं और अत्यधिक बुरे हों तो खब्त का रूप धारण कर लेते हैं।

फ्रायड के सिद्धान्त से उतनी जुगुप्सा उत्पन्न नहीं हुई जितनी कि होने की

सम्भावना थी। यह सच है कि प्रोफ़ेसरों को इस में विश्वास रखने के कारण पदच्युत किया गया है और ब्रिटिश पुलिस ने अपनी पीढ़ी के एक महान व्यक्ति[1] को इसके अनुसार कार्य करने पर निर्वासित कर कर दिया था। परन्तु ईसाई धर्म के संयमव का प्रभावाद ऐसा है कि लोगों को फ्रायड द्वारा सेक्स पर जोर दिए जाने से जितनी जुगुप्सा हुई है उतनी बाल-सुलभ घृणाओं के उस चित्र से नहीं हुई जो कि फ्रायड ने खींचा। परन्तु हमें बच्चों के आवेशों के सम्बन्ध में फ्रायड के विचारों के सच या झूठ होने के सम्बन्ध में बिना किसी प्रकार की पूर्वधारणाओं के निर्णय करने की चेष्टा करनी है। प्रारम्भ में ही मैं यह स्वीकार कर लूं कि हाल ही के कुछ वर्षों में मुझे बच्चों का पर्याप्त अनुभव हुआ है, जिसके फलस्वरूप मेरी यह धारणा बन गयी है कि फ्रायड के सिद्धान्तों में उससे कहीं अधिक सच्चाई है जितनी कि मैं पहले समझता था। फिर भी मेरा विचार अब तक यही है कि उन सिद्धान्तों में सच्चाई का एक ही पक्ष है और वह पक्ष ऐसा है जिसे माता-पिता थोड़ी-सी समझबूझ से महत्वहीन बना सकते हैं।

पहले ईडिपस ग्रन्थि को लीजिए। बच्चों में यौन भावना उससे कहीं अधिक शक्तिशाली है जितनी कि फ्रायड से पहले समझी जाती थी। बल्कि मेरा विचार तो यह है कि शैशव में जितनी भिन्नलिंगाकर्षिता का आभास फ्रायड की रचनाओं से मिलता है, वास्तव में वह उससे कहीं अधिक बलवती होती है। किसी बेसमझ मां के लिए अनजाने में ही छोटे लड़के की भिन्नलिंगाकर्षी भावनाओं को अपने ऊपर केन्द्रित हो जाने देना कठिन नहीं है। यह सच है कि यदि ऐसा हो जाये तो सम्भवतः वही दुष्परिणाम होंगे जिनका उल्लेख फ्रायड ने किया है। परन्तु यदि मां का यौन जीवन सन्तोषप्रद हो तो इस बात की सम्भावना बहुत कम रहती है, क्योंकि उस दशा में वह उस प्रकार के भावात्मक सन्तोष के लिए अपने बच्चे की ओर नहीं देखेगी जो वयस्कों से ही प्राप्त करना चाहिए। मातृत्व का आवेग अपने शुद्ध रूप में यह है कि बच्चों की देखभाल की जाये, न कि यह कि उनसे स्नेह की मांग जाये। यदि स्त्री अपने यौन जीवन में सुखी है तो वह अपने बच्चे से भावात्मक प्रत्युत्तर की अनुचित मांग का स्वतः परित्याग कर देगी।

१. होमर लेन।

इस कारण सुखी स्त्री, दुःखी स्त्री की अपेक्षा अच्छी मां बन बन सकती है। परन्तु किसी भी स्त्री को यह निश्चय नहीं हो सकता कि वह सदा सुखी रहेगी और दु.ख के समय, बच्चों से अधिक स्नेह की मांग से बचने के लिए थोड़ा बहुत आत्मसंयम आवश्यक है। इतना आत्मसंयम कर सकना अधिक कठिन नहीं है, परन्तु पुराने समय में तो इसकी आवश्यकता अनुभव ही नहीं की जाती थी। और यदि कोई मां अपने बच्चों को प्यार-दुलार में निरन्तर हृदय से लगाती रहे तो उसके व्यवहार को उचित ही माना जाता था। छोटे बच्चों की भिन्न-लिंगाकर्षण की भावनाएं अन्य बच्चों के साथ स्वाभाविक, स्वस्थ और निष्कपट रूप से अपना निकास ढूंढ सकती हैं। इस रूप मे वे खेल का अंग हैं और सभी खेलों की तरह, वयस्क क्रियाओं के लिए तैयारी का रूप होती हैं। तीन या चार वर्ष की आयु के बाद बच्चे को अपने भावात्मक विकास के लिये दूसरे लड़के लड़कियों के—न केवल भाई-बहिनों के, जो उनसे बड़े होते हैं या छोटे, बल्कि अपनी ही आयु के बच्चों के—साहचर्य की आवश्यकता होती है। आधुनिक छोटा-सा परिवार, अपने शुद्ध रूप में छोटी आयु के बच्चों के स्वस्थ विकास के लिए बहुत छोटा और सीमित होता है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि बच्चों के परिवेश के एक अंग के रूप में यह अवांछनीय है।

लेकिन छोटे बच्चों में अवांछित ढंग के स्नेह की प्रवृत्ति जागृत करने के लिये केवल माताएं ही उत्तरदायी नहीं हैं। नौकरानियों और नर्सों तथा बाद के वर्षों में स्कूल की अध्यापिकाओं से भी इस बात का उतना ही खतरा रहता है बल्कि उससे अधिक रहता है ; क्योंकि उनमें साधारणतया अतृप्त यौन पिपासा होती है। शिक्षा अधिकारियों का मत है कि जिनका बच्चों के साथ वास्ता पड़ता है वे दुःखी चिरकुमारियां ही होनी चाहिएं। इस विचार से पता चलता है कि वे मनोविज्ञान से कितने अनभिज्ञ हैं; और जिस व्यक्ति ने छोटे बच्चों के भावात्मक विकास को निकट से देखा हो, वह कभी इसमें विश्वास नहीं कर सकता।

परिवार में भाइयों और बहिनों के प्रति ईर्ष्या साधारणतया देखने को मिलती है और कभी-कभी बाद के जीवन में इसका परिणाम हत्योन्माद और उससे

कम गम्भीर मानसिक विकारों के रूप में प्रकट होता है। थोड़ी-बहुत ईर्ष्या तो रहेगी ही, परन्तु यदि माता-पिता और बच्चों का लालन-पालन करने वाले अपने व्यवहार पर नियंत्रण रखने का कष्ट उठाएं तो इसे रोकना कठिन नहीं है। पक्षपात बिल्कुल नहीं होना चाहिए—खिलौनों, आमोद-प्रमोद और ध्यान देने में सब बच्चों के साथ पूरा न्याय होना चाहिए। नये भाई या बहिन के जन्म पर, अन्य बच्चों को यह अनुभव न होने देने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए कि माता-पिता के लिए उनका महत्व पहले से कम हो गया है। मैं समझता हूँ कि जहां कहीं भी ईर्ष्या गम्भीर रूप में दिखाई पड़ेगी, वहीं आप यह देखेंगे कि साधारण से विषयों के पालन में सावधानी नहीं बरती गई है।

अब हम उन शर्तों पर पहुँच गए हैं जो कि बच्चों पर परिवार का मनोवैज्ञानिक प्रभाव अच्छा बनाने के लिए पूरी करनी पड़ेंगी। माता-पिता और विशेषकर माता इस बात का प्रयत्न करे कि उसका यौन जीवन यथासम्भव सुखी हो। माता और पिता दोनों अपने बच्चों के साथ उस भावात्मक सम्बन्ध से बचें जिस का प्रत्युत्तर शैशव में अच्छा नहीं होता। भाई और बहिनों में कोई भेद नहीं होना चाहिए बल्कि सभी के साथ निष्पक्षतापूर्ण और समान व्यवहार होना चाहिए तथा तीन या चार वर्ष की आयु के बाद बच्चे को केवल घर में ही नहीं रहना चाहिए बल्कि दिन का काफ़ी भाग उसे अपनी ही आयु के बच्चों के साथ बिताना चाहिए। मेरा विचार है यदि ये शर्तें पूरी हो जायें तो उन दुष्प्रभावों की सम्भावना बहुत कम रहेगी जिनका डर फ्रायड ने प्रकट किया था।

दूसरी ओर, जब माता-पिता का स्नेह ठीक ढंग का हो तो उससे बच्चे के विकास को बढ़ावा मिलता है। जिन बच्चों की माताएं उनसे प्रगाढ़ स्नेह नहीं करतीं, उनके दुबला-पतला और भीरु होने की सम्भावना होती है। कई बार उनमें चोरी करने का सहज उन्माद जैसे विकार उत्पन्न हो जाते हैं। माता-पिता के स्नेह के कारण शिशु जोखिम से भरे इस संसार में अपने को सुरक्षित अनुभव करते हैं और इससे उनमें अपने परिवेश की छान-बीन करने और नए प्रयोग करने की हिम्मत पैदा होती है। बच्चे के मानसिक जीवन के लिए यह जरूरी

है कि वह अपने को प्रगाढ़ स्नेह का पात्र समझता रहे क्योंकि सहजवृत्ति उसे यह बताती है कि वह असहाय है और उसे उस त्राण की आवश्यकता है, जो स्नेह से ही मिल सकता है। बच्चे के सुखमय, अबाध और भय-रहित विकास के लिए यह ज़रूरी है कि उसके परिवेश में ऐसी स्निग्धता हो जो माता-पिता के प्यार से ही आ सकती है।

बुद्धिमान मां-बाप अपने बच्चों की एक और सेवा कर सकते हैं,—यद्यपि हाल ही के समय तक उन्होंने यह सेवा कभी नहीं की—कि वे बच्चों को सेक्स तथा मां बनने के तथ्यों का ज्ञान जहां तक मुमकिन हो अच्छे ढंग से करा दें। यदि बच्चे अपने माता-पिता के परस्पर सम्बन्ध—जिसके कारण वे उत्पन्न हुए—के रूप में सेक्स के बारे में जान लें तो वे इसे सबसे अच्छे रूप में जान सकते हैं और इसके जीवशास्त्रीय प्रयोजन को भी समझ सकते है। पुराने समय में उन्हें सेक्स का ज्ञान लगभग सदा ही अश्लील हंसी-मज़ाक के विषय के रूप में होता था और वे समझते थे कि यह उन सुखों का स्रोत है जिन्हें अशोभनीय माना जाता था। इस प्रकार गुप्त रूप से अशिष्ट बात-चीत के द्वारा सेक्स का ज्ञान होने के कारण उनके मन पर इतनी अमिट छाप पड़ जाती थी कि उसके बाद सेक्स से सम्बन्धित किसी भी विषय पर शिष्ट दृष्टिकोण होने की सम्भावना नहीं रहती थी।

यह निश्चय करने के लिए कि सब बातों को देखते हुए पारिवारिक जीवन वांछनीय है अथवा नहीं, हमें निस्सन्देह यह देखना है कि व्यावहारिक विकल्प कौन-कौन से हैं। वे दो ही दिखाई देते हैं: पहला, मातृसत्तात्मक परिवार, और दूसरा, अनाथालयों जैसी सार्वजनिक संस्थाएं। परन्तु इन दोनों में से किसी को भी प्रचलित करने के लिए बहुत से आर्थिक परिवर्तन करने पड़ेंगे। हम मान लेते हैं कि वे परिवर्तन हो गए हैं, और इस बात पर विचार करते हैं कि बच्चों की मनोवृत्ति पर उनका क्या प्रभाव पड़ेगा।

प्रारम्भ में हम मातृसत्तात्मक परिवार को ही लेते हैं। इस प्रणाली में यह होगा कि बच्चे सिर्फ मां को ही जानेंगे। जब भी कोई स्त्री बच्चा चाहेगी, उसे जन्म दे देगी, परन्तु यह आशा नहीं करेगी कि उसका बाप उसमें कोई विशेष

कम गम्भीर मानसिक विकारों के रूप में प्रकट होता है। थोड़ी-बहुत ईर्ष्या तो रहेगी ही, परन्तु यदि माता-पिता और बच्चों का लालन-पालन करने वाले अपने व्यवहार पर नियंत्रण रखने का कष्ट उठाएं तो इसे रोकना कठिन नहीं है। पक्षपात बिल्कुल नहीं होना चाहिए—खिलौनों, आमोद-प्रमोद और ध्यान देने में सब बच्चों के साथ पूरा न्याय होना चाहिए। नये भाई या बहिन के जन्म पर, अन्य बच्चों को यह अनुभव न होने देने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए कि माता-पिता के लिए उनका महत्व पहले से कम हो गया है। मैं समझता हूँ कि जहां कहीं भी ईर्ष्या गम्भीर रूप में दिखाई पड़ेगी, वहीं आप यह देखेंगे कि साधारण से विषयों के पालन में सावधानी नहीं बरती गई है।

अब हम उन शर्तों पर पहुँच गए हैं जो कि बच्चों पर परिवार का मनोवैज्ञानिक प्रभाव अच्छा बनाने के लिए पूरी करनी पड़ेंगी। माता-पिता और विशेषकर माता इस बात का प्रयत्न करे कि उसका यौन जीवन यथासम्भव सुखी हो। माता और पिता दोनों अपने बच्चों के साथ उग्र भावात्मक सम्बन्ध से बचें जिस का प्रत्युत्तर शैशव में अच्छा नहीं होता। भाई और बहिनों में कोई भेद नहीं होना चाहिए बल्कि सभी के साथ निष्पक्षतापूर्ण और समान व्यवहार होना चाहिए तथा तीन या चार वर्ष की आयु के बाद बच्चे को केवल घर में ही नहीं रहना चाहिए बल्कि दिन का काफ़ी भाग उसे अपनी ही आयु के बच्चों के साथ बिताना चाहिए। मेरा विचार है यदि ये शर्तें पूरी हो जायें तो उन दुष्प्रभावों की सम्भावना बहुत कम रहेगी जिनका डर फ्रायड ने प्रकट किया था।

दूसरी ओर, जब माता-पिता का स्नेह ठीक ढंग का हो तो उससे बच्चे के विकास को बढ़ावा मिलता है। जिन बच्चों की माताएं उनसे प्रगाढ़ स्नेह नहीं करतीं, उनके दुबला-पतला और भीरु होने की सम्भावना होती है। कई बार उनमें चोरी करने का सहज उन्माद जैसे विकार उत्पन्न हो जाते है। माता-पिता के स्नेह के कारण शिशु जोखिम से भरे इस संसार में अपने को सुरक्षित अनुभव करते हैं और इससे उनमें अपने परिवेश की छान-बीन करने और नए प्रयोग करने की हिम्मत पैदा होती है। बच्चे के मानसिक जीवन के लिए यह ज़रूरी

है कि वह अपने को प्रगाढ़ स्नेह का पात्र समझता रहे क्योंकि सहजवृत्ति उसे यह बताती है कि वह असहाय है और उसे उस त्राण की आवश्यकता है, जो स्नेह से ही मिल सकता है। बच्चे के सुखमय, अबाध और भय-रहित विकास के लिए यह जरूरी है कि उसके परिवेश में ऐसी स्निग्धता हो जो माता-पिता के प्यार से ही आ सकती है।

बुद्धिमान मां-बाप अपने बच्चों की एक और सेवा कर सकते हैं,—यद्यपि हाल ही के समय तक उन्होंने यह सेवा कभी नहीं की—कि वे बच्चों को सेक्स तथा मां बनने के तथ्यों का ज्ञान जहां तक मुमकिन हो अच्छे ढंग से करा दें। यदि बच्चे अपने माता-पिता के परस्पर सम्बन्ध—जिसके कारण वे उत्पन्न हुए—के रूप में सेक्स के बारे में जान लें तो वे इसे सबसे अच्छे रूप में जान सकते हैं और इसके जीवशास्त्रीय प्रयोजन को भी समझ सकते हैं। पुराने समय में उन्हें सेक्स का ज्ञान लगभग सदा ही अश्लील हंसी-मजाक के विषय के रूप में होता था और वे समझते थे कि यह उन सुखों का स्रोत है जिन्हें अशोभनीय माना जाता था। इस प्रकार गुप्त रूप से अशिष्ट बात-चीत के द्वारा सेक्स का ज्ञान होने के कारण उनके मन पर इतनी अमिट छाप पड़ जाती थी कि उसके बाद सेक्स से सम्बन्धित किसी भी विषय पर शिष्ट दृष्टिकोण होने की सम्भावना नहीं रहती थी।

यह निश्चय करने के लिए कि सब बातों को देखते हुए पारिवारिक जीवन वांछनीय है अथवा नहीं, हमें निस्सन्देह यह देखना है कि व्यावहारिक विकल्प कौन-कौन से हैं। वे दो ही दिखाई देते हैं: पहला, मातृसत्तात्मक परिवार, और दूसरा, अनाथालयों जैसी सार्वजनिक संस्थाएं। परन्तु इन दोनों में से किसी को भी प्रचलित करने के लिए बहुत से आर्थिक परिवर्तन करने पड़ेंगे। हम मान लेते हैं कि वे परिवर्तन हो गए हैं, और इस बात पर विचार करते हैं कि बच्चों की मनोवृत्ति पर उनका क्या प्रभाव पड़ेगा।

प्रारम्भ में हम मातृसत्तात्मक परिवार को ही लेते हैं। इस प्रणाली में यह होगा कि बच्चे सिर्फ मां को ही जानेंगे। जब भी कोई स्त्री बच्चा चाहेगी, उसे जन्म दे देगी, परन्तु यह आशा नहीं करेगी कि उसका बाप उसमें कोई विशेष

दिलचस्पी ले और यह भी जरूरी नहीं कि वह अपने विभिन्न बच्चों के लिए एक ही बाप चुने। यदि यह मान लिया जाये कि आर्थिक व्यवस्था सन्तोषजनक. हो, तो क्या इस प्रणाली में बच्चों को अधिक हानि पहुँचेगी ? वास्तव में, बच्चे के लिए पिता का मनोवैज्ञानिक उपयोग क्या है ? मैं समझता हूँ कि सबसे अधिक महत्वशाली उपयोग वही है, जिसकी हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं—अर्थात् सेक्स का सम्बन्ध विवाहित प्रेम और सन्तोत्पत्ति से स्थापित हो जाता है। इसके सिवा शैशव काल के बाद, इस बात का निश्चित लाभ यह होता है कि बच्चा जीवन के सम्बन्ध में पुरुषोचित और स्त्रियोचित दृष्टिकोण के सम्पर्क में आता है। विशेष कर लड़कों के लिए बौद्धिक दृष्टि से इस बात का बड़ा महत्व है। लेकिन साथ ही मैं समझता हूँ कि यह लाभ कोई बहुत बड़ा लाभ नहीं है। जहां तक मुझे पता है, जिन बच्चों के बाप उनके शैशव काल में ही मर जाते हैं, वे सामान्यतया अन्य बच्चों की तुलना में किसी प्रकार कम नहीं होते। इसमें सन्देह नहीं कि पिता न होने की अपेक्षा आदर्श पिता होना अच्छा है परन्तु बहुत से पिता उस आदर्श से इतने दूर होते हैं कि उनका न होना ही बच्चे के लिए यथार्थ में में लाभकारी हो सकता है।

अभी हमने जो कुछ कहा वह इस कल्पना पर आधारित है कि विद्यमान परम्परा से कोई भिन्न परम्परा स्थापित हो जाये। बच्चों को किसी स्थापित परम्परा के उल्लंघन से हानि पहुँचती है, क्योंकि बच्चे के लिए इससे अधिक दुःखदायी बात और कोई नहीं हो सकती कि उसे किसी प्रकार यह अनुभव हो कि वह विलक्षण है। यही बात हमारे आज के समाज में तलाक़ पर लागू होती है। जिस बच्चे की मां और पिता दोनों हों और उन दोनों से ही उसे प्रेम हो गया हो, तो उनके परस्पर सम्बन्ध-विच्छेद से उसकी यह भावना समाप्त हो जाती है कि वह सुरक्षित है। बल्कि यह सम्भावना रहती है कि ऐसी परिस्थिति में कहीं उसके मन में आतंक और दूसरे स्नायविक विकार उत्पन्न न हो जायें। जब बच्चे को मां और बाप दोनों से ही प्रेम हो और वे अलग हो जायें तो यह बड़ी गम्भीर बात है। इसलिए मेरा मत है कि बच्चों के लिए उस समाज की तुलना में जहां तलाक़ यद्यपि असाधारण तो माना जाता हो परन्तु बहुधा होता अवश्य हो, ऐसा समाज

अधिक अच्छा रहेगा जिसमें पिता के लिए स्थान ही न हो।

मेरे विचार से प्लेटो का यह प्रस्ताव अच्छा नहीं कहा जा सकता कि बच्चों को उनके मां और बाप दोनों से अलग कर दिया जाये। जिन कारणों का उल्लेख किया जा चुका है, उनके आधार पर मैं समझता हूँ कि बच्चों के विकास के लिए माता-पिता का स्नेह जरूरी है। यह तो हो सकता है कि माता या पिता दोनों में से एक का ही स्नेह पर्याप्त हो परन्तु यदि दोनों में से एक का भी स्नेह न हो तो यह बड़ी शोचनीय बात होगी। यौन नैतिकता के दृष्टिकोण से—जिसके साथ कि प्रमुख रूप से हमारा सम्बन्ध है—महत्वपूर्ण प्रश्न पिता की उपयोगिता का है। इस उपयोगिता के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना बड़ा कठिन है, परन्तु निष्कर्ष तो यही दिखाई पड़ता है कि धनाढ्य वर्गों में तो पिता की उपयोगिता कुछ सीमित है, परन्तु निर्धन वर्गों में पिता अत्याचारी, बुरे स्वभाव और झगड़ालू होने के कारण अपनी सन्तान का भला करने की बजाय उसको हानि कर सकता है। इसलिए सन्तान की मनोवृत्ति के दृष्टिकोण से पिता की स्थिति बहुत अच्छी नहीं है।

यह अनुमान लगाना बड़ा कठिन है कि माता की मनोवृत्ति के दृष्टिकोण से प्रस्तुत रूप में परिवार का क्या महत्व है। मैं समझता हूँ कि गर्भावस्था और बच्चे को दूध पिलाने के काल में साधारणतया स्त्रियों में पुरुष का परिभाग पाने का सहजवृत्तिमूलक रुझान रहता है—और यह भावना मानव ने निस्सन्देह मानवपूर्व वानरों से ली है। आज के कुछ क्रूर संसार में जिस स्त्री को इस परिभाग का परित्याग करना पड़ता है, उसमें सम्भवतः किसी सीमा तक अनावश्यक संघर्ष प्रवृत्ति रहती है और वह दबंग बन जाती है। परन्तु यह भावनाएं आंशिक रूप में ही सहजवृत्तिमूलक हैं। यदि राज्य गर्भिणी और दूध पिलाने वाली स्त्रियों और उनके बच्चों की पर्याप्त देख-भाल करने लगे तो ये भावनाएं बहुत दुर्लभ हो जायेंगी और कुछ दशाओं में बिलकुल समाप्त हो जायेंगी। मैं समझता हूँ कि प्यार में पिता का स्थान हटा देने से स्त्रियों को मुख्य हानि सम्भवतः यह होगी कि पुरुषों के साथ उनके सम्बन्धों की प्रगाढ़ता और गम्भीरता कम हो जायेगी। मानव बने ही इस प्रकार हैं कि स्त्रियों को पुरुषों से और पुरुषों को

स्त्रियों से बहुत कुछ सीखना पड़ता है। परन्तु केवल यौन सम्बन्ध—वे चाहे कितने ही स्निग्ध क्यों न हों—इस शिक्षा के लिए पर्याप्त नहीं होते। सन्तान के पालन-पोषण के गम्भीर काम में सहयोग और लम्बे समय तक साहचर्य से स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध अधिक महत्वपूर्ण बन जाते हैं और दोनों के लिए अधिक गुणकारी होते हैं। यदि पुरुषों पर अपने बच्चों की कोई ज़िम्मेदारी न हो, तो ये सम्बन्ध वैसे नहीं रहेंगे। मेरा विचार है कि बच्चों के लिए भावात्मक शिक्षा के दृष्टि-कोण से वे माताएं अपने बच्चों के लिए उतनी लाभकारी नहीं होंगी, जो सर्वथा स्त्री-सुलभ वातावरण में रहती हैं और पुरुषों के साथ जिनका सम्पर्क साधारण-सा होता है, जितनी कि वे माताएं जो विवाह में सुखी हैं और प्रत्येक दशा में अपने पतियों के साथ सहयोग करती हैं। परन्तु साथ ही यह भी कहना पड़ेगा कि बहुत से मामलों में, इनके अतिरिक्त और बहुत-सी बातें होती हैं जिनका अधिक प्रभाव होता है। यदि कोई विवाहिता-स्त्री बहुत दुःखी हो—और यह बात असाधारण नहीं कही जा सकती—तो दुःख के कारण उसकी भावात्मक स्थिति वैसी नहीं हो सकती, जैसी कि बच्चों के साथ व्यवहार में होनी चाहिए। ऐसी दशा में वह यदि बच्चों के पिता से अलग हो जाये, तो निस्सन्देह अच्छी मां बन सकती है। इस प्रकार हम इस तुच्छ से परिणाम पर पहुँचते हैं कि सुखी विवाह अच्छे होते हैं और दुःखी विवाह बुरे।

व्यक्ति की मनोवृत्ति में परिवार के सम्बन्ध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न का प्रमुख भाग यह है कि इसका पिता पर क्या प्रभाव पड़ता है। हमने बार-बार पितृत्व के महत्व और उससे संलग्न आवेशों का उल्लेख किया है। हम यह देख चुके हैं कि इतिहास के प्रारम्भ में इसने पितृसत्तात्मक परिवार के विकास और स्त्रियों को पराधीन बनाने में क्या योग दिया है और इससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि पितृत्व की भावना कितना उत्कट आवेश है। कुछ कारणों से—जिन्हें समझना सरल नहीं है—अत्यधिक सभ्य समुदायों में यह भावना उतनी शक्तिशाली नहीं है, जितनी कि अन्य स्थानों पर है। रोम-साम्राज्य के काल में उच्च वर्गों के लोगों में यह भावना स्पष्टतया नहीं होती थी और आज के युग में भी बहुत से बुद्धिजीवी बने हुए पुरुषों में यह भावना लगभग बिल्कुल नहीं है।

परन्तु अधिकतम सभ्य समुदायों में भी अधिकतर पुरुषों में यह भावना विद्यमान है। पुरुष इसी के कारण विवाह करते हैं न कि सेक्स के लिए, क्योंकि बिना विवाह किये यौन सन्तोष प्राप्त करना कठिन नहीं है। एक यह सिद्धान्त भी है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में बच्चों की कामना अधिक होती है परन्तु मेरी धारणा यह है कि वास्तविकता इसके बिल्कुल उलट है। आजकल विवाहों में बच्चे इसलिए होते हैं कि स्त्री पुरुष की सन्तान-कामना के आगे झुक जाती है। स्त्री को बच्चा पैदा करने के लिए प्रसव-पीड़ा सहनी पड़ती है तथा, सम्भवतः, सौन्दर्य भी गँवाना पड़ता है। परन्तु पुरुष को इस प्रकार की कोई चिन्ता नहीं होती। पुरुष अपने परिवार को सीमित रखना चाहता है तो साधारणतया आर्थिक कारणों से ; स्त्रियों के लिए भी यही कारण होते हैं परन्तु उनके कुछ विशेष कारण भी होते हैं। पुरुषों में सन्तान की कामना कितनी उत्कट होती है, यह इस बात से प्रकट है कि वृत्तिभोगी पुरुष अपने परिवार को अधिक खर्च करके शिक्षा देते समय—जो कि उनके वर्ग में आवश्यक मानी जाती है—भौतिक सुख से बहुत-कुछ वंचित रहते हैं।

आज पितृत्व के कारण जो अधिकार प्राप्त हैं, वे न हों तो क्या पुरुष बच्चे पैदा करेंगे ? कुछ लोग कहेंगे कि यदि पुरुषों की जिम्मेदारियां न हों तो वे बिना विवेक के बच्चे पैदा करते चले जायेंगे। परन्तु मेरा विश्वास है कि ऐसा नहीं होगा। जो पुरुष बच्चे चाहता है, वह बच्चों के साथ आने वाली ज़िम्मेदारियां भी चाहता है। और आज गर्भरोधकों के युग में पुरुष बहुधा, सुख की खोज में आकस्मिक घटना के रूप में बच्चे को जन्म नहीं देगा। इसमें सन्देह नहीं कि कानून की स्थिति चाहे जो भी हो, कोई भी स्त्री-पुरुष ऐसे स्थायी सम्बन्ध में बंधकर रह सकते हैं जिसमें पुरुष को वह सब प्राप्त होगा जो पितृत्व के कारण प्राप्त होता है। परन्तु यदि कानून और प्रथा में इस दृष्टिकोण के अनुसार परिवर्तन कर दिया जाये कि बच्चे केवल मां के हैं तो स्त्रियां यह महसूस करेंगी कि जिसे हम विवाह कहते हैं उस जैसी कोई भी वस्तु उनकी स्वतन्त्रता का उल्लंघन है और इसके कारण बच्चों पर उनके सम्पूर्ण स्वामित्व का अनावश्यक ह्रास हो जायेगा जो कि उस सम्बन्ध से अलग रहकर रोका जा सकता है। इसलिए

हमें इस सम्भावना को ध्यान में रखना चाहिए कि पुरुष स्त्रियों को उन अधिकारों को छोड़ने के लिए तैयार नहीं कर सकेंगे जो कि कानून द्वारा उन्हें प्राप्त हैं।

पिछले अध्याय में पुरुषों की मनोवृत्ति पर इस प्रकार की प्रणाली के प्रभाव की चर्चा की गयी थी। मेरा विश्वास है कि इस प्रणाली से स्त्रियों के साथ पुरुषों के सम्बन्धों की गम्भीरता बहुत कम हो जायेगी। हृदय, मन और तन के प्रगाढ़ सम्बन्ध के स्थान पर केवल सुख प्राप्ति की इच्छा से ही ये सम्बन्ध स्थापित होंगे। इससे सभी व्यक्तिगत सम्बन्धों की प्रवृत्ति तुच्छता की ओर होगी, जिसका नतीजा यह होगा कि पुरुष की गम्भीर भावनाओं का सम्बन्ध उसके कृतत्व, देश या किसी ऐसे विषय से होगा जिसका उससे व्यक्तिगत सम्बन्ध न हो। परन्तु यह सब बातें सामान्य ढंग से ही कही गयी हैं क्योंकि पुरुष एक-दूसरे से बहुत भिन्न होते हैं। जिस वस्तु का अभाव एक के लिए बड़ा गम्भीर है, वह दूसरे के लिए पूर्णतया सन्तोषप्रद हो सकता है। मेरा विश्वास तो यह है—यद्यपि मैं कुछ झिझक के साथ इसे प्रकट कर रहा हूँ—कि मान्य सामाजिक सम्बन्ध के रूप में पितृत्व के उन्मूलन से पुरुषों का भावात्मक जीवन तुच्छ और प्रभावहीन हो जायेगा और इसके परिणामस्वरूप ऊब और निराशा बढ़ती जायेगी। नतीजा यह होगा कि सन्तानोत्पत्ति की क्रिया धीरे-धीरे समाप्त हो जायेगी और मानव-जाति की वृद्धि वही लोग करेंगे जिन्होंने पुरानी परम्परा को जीवित रखा होगा। मैं समझता हूँ कि इस ऊब और तुच्छता से किसी भी तरह बचा नहीं जा सकेगा। इसमें कोई शक नहीं कि जनसंख्या के ह्रास को तो स्त्रियों को समुचित धन द्वारा मातावृत्ति अपनाने के लिए तैयार करके रोका जा सकता है। और यदि सैनिकवाद जितना दुर्धर्ष आज है उतना ही बना रहा तो जल्दी ही ऐसा किया भी जायेगा। परन्तु इस तरह की विचारधाराओं का सम्बन्ध तो जनसंख्या के प्रश्न से है। इस पर बाद के एक अध्याय में प्रकाश डाला गया है। इसलिए मैं अभी इस सम्बन्ध में और कुछ नहीं कहूँगा।

परिवार और राज्य

परिवार का उद्गम चाहे जीवशास्त्रीय रहा है, सभ्य समुदायों में इसका सृजन कानून द्वारा हुआ है। विवाह को कानून द्वारा विनियमित किया जाता है और बच्चों पर उनके माता-पिता के अधिकार बड़ी सूक्ष्मता से निर्धारित किए जाते हैं। जहां विवाह न हुआ हो, बच्चे पर पिता का कोई अधिकार नहीं होता और वह केवल मां का ही होता है। हालांकि कानून परिवार को प्रतिष्ठापित करने के लिए है, परन्तु आधुनिक काल में इसने माता-पिता और बच्चों के बीच अधिकाधिक हस्तक्षेप किया है। और कानून बनाने वालों की इच्छा और संकल्प के विरुद्ध, वह परिवार प्रणाली के विघटन का एक मुख्य साधन होता जा रहा है। ऐसा होने का कारण यही है कि बुरे माता-पिता पर अपने बच्चों की उतनी देख-भाल करने का भरोसा नहीं किया जा सकता, जितनी कि समुदाय आवश्यक समझता है। और न केवल बुरे, बल्कि निर्धन मां-बाप के बच्चों को भी विपत्ति से बचाने के लिए राज्य के हस्तक्षेप की आवश्यकता पड़ती है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में, कारखानों में बच्चों को काम पर लगाने में हस्तक्षेप के प्रस्ताव का इस आधार पर कड़ा विरोध किया गया कि इस से माता-पिता का उत्तरदायित्व कम हो जायेगा। यद्यपि पुरातन रोम के कानून की तरह इंगलैण्ड का कानून माता-पिता को यह अनुमति नहीं देता था कि वे चाहें तो अपने बच्चों को बिना कष्ट दिए जल्दी से मार डालें, परन्तु उन्हें यह अनुमति थी कि वे बच्चों से कड़ा परिश्रम ले कर धीरे-धीरे उनका जीवन निर्जीव कर दें। माता-पिता, कारखानों के मालिक और अर्थशास्त्री इस पवित्र अधिकार का पक्ष लेते थे। परन्तु समुदाय की नैतिक भावना इस प्रकार की थोथी सिद्धान्त-

निष्ठा को सहन नहीं कर सकी और फ़ैक्ट्री एक्ट पास किए गए। अगला कदम इस से भी अधिक महत्वपूर्ण था—अर्थात्, अनिवार्य शिक्षा प्रारम्भ कर दी गई। देखा जाये तो यह माता-पिता के अधिकारों में गम्भीर हस्तक्षेप है। छुट्टियों को छोड़ बाकी दिन बच्चों को कई घण्टे तक घर से बाहर रहना पड़ता है और वे बातें सीखनी पड़ती हैं जिन्हें राज्य उनके लिए ज़रूरी समझता है। इस सम्बन्ध में माता-पिता क्या सोचते हैं, उसका न्याय की दृष्टि में कोई भी मूल्य नहीं। स्कूलों के माध्यम से बच्चों के जीवन पर राज्य का नियन्त्रण धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है। उनके माता-पिता विश्वास की शक्ति से चाहे बिना औषधियों के आरोग्य पाने में आस्था रखने वाले (क्रिश्चियन साइंटिस्ट) हों, राज्य उनके स्वास्थ्य का ध्यान रखता है। यदि उनमें मानसिक अभाव हों तो उन्हें विशेष स्कूलों में भेजा जाता है। यदि उनका आहार अपुष्ट हो तो उन्हें भोजन दिया जाता है। यदि उनके माता-पिता उनके लिए जूतों का बन्दोबस्त नहीं कर पाते तो उन्हें जूते लेकर दिए जाते हैं। यदि बच्चा स्कूल पहुँचे और उसकी भाव-भंगिमा से पता चले कि माता-पिता ने उसके साथ बुरा बर्ताव किया है, तो उनको सजा दी जा सकती है। पुराने समय में बच्चों की कमाई पर उस समय तक उनके माता-पिता का अधिकार रहता था जब तक कि वे वयस्क न हों। आज-कल, बच्चों के लिए अपनी कमाई माता-पिता से बचा कर रखना व्यावहारिक दृष्टि से यद्यपि कठिन है, परन्तु उन्हें इसका अधिकार अवश्य है और यदि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाये कि उस अधिकार को प्रभावी बनाना आवश्यक हो, तो उसकी भी व्यवस्था की जा सकती है। वेतनभोगी वर्ग में माता-पिता के पास जो अधिकार बचे हैं उनमें से एक यह है कि वे अपने बच्चों को इस प्रकार के अन्धविश्वास की शिक्षा दे सकते हैं, जिसे कि पड़ोस के बहुत से माता-पिता भी पसन्द करते हों। लेकिन कई देशों में माता-पिता से यह अधिकार भी छीन लिया गया है।

पिता के स्थान पर राज्य के आ जाने की इस क्रिया की कोई भी स्पष्ट सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। राज्य ने माता-पिता के नहीं वरन् पिता के काम संभाले हैं, क्योंकि राज्य बच्चे के लिए उन सेवाओं की व्यवस्था करता

है, जिनके अभाव में उनका खर्च पिता को देना पड़ता है। उच्च और मध्य वर्गों में यह प्रक्रिया नहीं के बराबर हुई जिसका नतीजा यह हुआ है कि वेतनभोगी वर्गों की अपेक्षा धनाढ्य वर्ग के पिता का महत्व अधिक है और उनमें परिवार अधिक स्थिर है। जिस देश में समाजवाद को उचित महत्व दिया जाता है, जैसे कि सोवियत रूस में, वहां उन शिक्षा-संस्थाओं के रूप-परिवर्तन को जो पहले धनी बच्चों के लिए थीं, महत्वपूर्ण और अत्यावश्यक कार्य समझा जाता है। इंगलैण्ड में इस प्रकार के रूप परिवर्तन की कल्पना करना कठिन है। मैंने देखा है कि इंगलैण्ड के प्रमुख समाजवादियों से यह कहे जाने पर कि सभी बच्चे प्रारम्भिक स्कूलों में जायें तो उनके मुंह क्रोध के मारे लाल हो जाते हैं। "क्या ? मेरे बच्चे गन्दी बस्तियों के बच्चों के साथ रहें ? कभी नहीं।" यही उद्गार उनके मुंह से निकलते हैं। अद्भुत बात तो यह है कि वे यह नहीं समझते कि वर्गों के विभाजन का शिक्षा प्रणाली के साथ कितना गहरा सम्बन्ध है।

सभी देशों में यह प्रवृत्ति है कि वेतनभोगी वर्ग के पिता की शक्ति और कार्यों में राज्य का हस्तक्षेप बराबर बढ़ता ही जा रहा है। परन्तु रूस को छोड़ और कहीं भी अन्य वर्गों के पिताओं के कार्यों में इस इस प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जा रहा। इसका प्रभाव यह है कि धनी और निर्धन वर्गों में दो विभिन्न दृष्टिकोण उत्पन्न हो रहे हैं। निर्धन वर्ग में परिवार दुर्बल होता जा रहा है, परन्तु धनी वर्ग में ऐसा परिवर्तन नहीं हो रहा। मैं समझता हूँ कि यह माना जा सकता है कि बच्चों के प्रति मानवोचित भावना—जिसके कारण पुराने समय में राज्य ने हस्तक्षेप किया है—बनी रहेगी और इसके कारण अधिकाधिक हस्तक्षेप होगा। उदाहरण के लिए, इस तथ्य के सम्बन्ध में सार्वजनिक कार्यवाही की आवश्यकता है कि लंदन की उन बस्तियों में जहां निर्धन रहते हैं और उत्तर के औद्योगिक नगरों में बच्चों की अत्यधिक संख्या वक्र रोग से पीड़ित रहती है। माता-पिता चाहे कितना ही चाहें, वे इस रोग का इलाज नहीं कर सकते क्योंकि उसके लिए अच्छे आहार और खुली हवा की जरूरत है जिसकी व्यवस्था वे नहीं कर सकते। बच्चों का शारीरिक स्वास्थ्य बाल्यकाल में ही नष्ट होने देना न केवल अपव्यय बल्कि क्रूरता का सूचक है। ज्यों-ज्यों आरोग्य शास्त्र और

आहार के सम्बन्ध में लोगों को अधिक ज्ञान होगा, यह मांग बढ़ती जायेगी कि बच्चों को आवश्यक हानि न पहुँचने दी जाये। यह तो सच है कि इस प्रकार के सभी सुझावों का कड़ा राजनीतिक विरोध किया जाता है। लंदन के प्रत्येक नगर क्षत्र के धनाढ्य व्यक्ति संगठित हो कर इस प्रकार की व्यवस्था कर लेते हैं कि कर न बढ़ने पायें और यह सुनिश्चित कर लेते हैं कि ग़रीब लोगों में बीमारी और ग़रीबी को कम करने के लिए जहां तक हो सके कम से कम कदम उठाये जायें। और जब स्थानीय अधिकारीगण शिशु-मृत्यु की संख्या घटाने के लिए सचमुच कुछ प्रभावी कदम उठाते है, जैसा कि पोपलार के अधिकारियों ने किया, तो उन्हें जेल भेज दिया जाता है।[1] परन्तु जो भी हो, धनाढ्य वर्ग के इस विरोध पर निरन्तर विजय प्राप्त की जा रही हैं और निर्धन वर्ग का स्वास्थ्य बराबर सुधारा जा रहा है। इसलिए हम निश्चित रूप के यह आशा कर सकते हैं कि निकट भविष्य में वेतनभोगी वर्ग के बच्चों की देख-रेख के सम्बन्ध में राज्य के काम घटने के स्थान पर बढ़ते ही जायेंगे और उसी मात्रा में पिताओं के काम कम होते जायेंगे। पिता का जीवशास्त्रीय प्रयोजन यह है कि असहाय-अवस्था के काल में बच्चों की रक्षा करें और जब यह जीवशास्त्री कर्म राज्य संभाल लेता है तो पिता का अस्तित्व कारण समाप्त हो जाता है। इसलिए हम यह आशा कर सकते हैं कि पूंजीवादी देशों में समाज दो जातियों में बंट जायेगा। धनाढ्य लोग परिवार को पुराने रूप में बनाये रखेंगे और निर्धन लोग उन आर्थिक कार्यों के लिए राज्य से आशा लगाए बैठे रहेंगे, जो कि परम्परा से पिता ही करते आए हैं।

सोवियत रूस में परिवार के रूप में अधिक क्रान्तिकारी परिवर्तन होने की आशा की जाती है। परन्तु इस बात इस बात को देखते हुए कि जनसंख्या का ८० प्रतिशत किसान हैं, जिन में परिवार की शक्ति उतनी ही है जितनी कि मध्य युगीन योरुप में थी, साम्यवादियों के सिद्धान्तों का प्रभाव छोटे से नागरिक

---

१. सन् १९२२ में पोपलर में केसिंगटन की तुलना से शिशु-मृत्यु पांच प्रति हजार कम थी और सन् १९२६ में जब पोपलर में विधिवत अधिकारी वर्ग पुनः स्थापित हो गया तो यह संख्या केसिंगटन की अपेक्षा १० प्रति हजार अधिक हो गई।

क्षेत्र पर ही पड़ेगा। इसलिए रूस में उस स्थिति के बिल्कुल उलट स्थिति हो सकती है, जोकि पूंजीवादी देशों में है, अर्थात् यह कि उच्च वर्ग में परिवार नहीं रहेगा और निम्न वर्ग परिवार को बनाए रखेगा।

एक बलवती शक्ति और है, जो कि पिता को हटाने की दिशा में काम कर रही है—वह है स्त्रियों की आर्थिक स्वतन्त्रता की इच्छा। राजनीति में अब तक जिन स्त्रियों ने प्रभावपूर्ण ढंग से आवाज उठाई है, वे अविवाहिता रही हैं, परन्तु यह परिस्थिति तो अस्थायी है। आजकल विवाहित स्त्रियों के साथ जो अन्याय होता है, वह अविवाहिता स्त्रियों की तुलना में कहीं अधिक गम्भीर है। जो अध्यापिका विवाह कर ले, उससे ऐसा व्यवहार किया जाता है मानो वह पाप-मय जीवन बिता रही हो। सरकारी प्रसूति-डाक्टरों को भी यदि वे स्त्री हों तो अविवाहित ही रहना पड़ता है। इन सब बातों का प्रयोजन यह नहीं है कि विवाहिता स्त्रियों को काम के अयोग्य समझा जाता है और न उनके नौकर रखे जाने पर कोई कानूनी बन्धन हैं। बल्कि इसके विपरीत, कुछ वर्ष पहले एक कानून पास किया गया, जिस में स्पष्ट रूप से यह कहा गया कि केवल विवाहित होने के कारण किसी स्त्री को अयोग्य नहीं समझा जायेगा। विवाहित स्त्रियों को काम पर न लगाने का प्रयोजन केवल यह है कि पुरुष यह चाहते हैं कि वे उन पर अपनी आर्थिक शक्ति बनाए रखें। यह नहीं समझना चाहिए कि स्त्रियां अनिश्चित काल तक इस अत्याचार को सहन करती जायेंगी। इसमें सन्देह नहीं कि उनका मामला उठाने के लिए कोई दल ढूंढना कठिन है, क्योंकि कन्जर्वेटिव (अनुदार) दल को घर प्यारा है और लेबर (मजदूर) दल को मजदूरों से प्रेम है। जो भी हो, अब मतदाताओं में बहुसंख्या स्त्रियों की है और यह नहीं मान लेना चाहिए कि वे सदा पृष्ठभूमि में रहना सहन करती रहेंगी। यदि उनके सारे दावे स्वीकार कर लिए जायें तो इससे परिवार पर गहरा प्रभाव पड़ेगा। दो विभिन्न तरीके हैं, जिनसे विवाहित स्त्रियां आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकती हैं। एक तो यह है कि वे उसी काम पर लगी रहें, जिसे वे विवाह से पहले करती थीं। इसका मतलब यह है कि उन्हें अपने बच्चे दूसरों की देख-रेख में रखने होंगे। जिसका नतीजा यह होगा कि शिशु-पालन केन्द्रों और शिशु-

स्कूलों की संख्या बहुत बढ़ जायेगी। और इसका तर्कसंगत परिणाम यह है कि बच्चों की मनोवृत्ति में न तो पिता का महत्व रहेगा और माता का। दूसरा तरीका यह होगा कि जिन माताओं के बच्चे छोटी आयु के हों, उन्हें राज्य से इस शर्त पर वेतन मिलता रहे कि वे अपने बच्चों की सेवा-सुश्रूषा में लगी रहेंगी। परन्तु सिर्फ यही तरीका पर्याप्त नहीं होगा। इसके साथ ही कुछ इस प्रकार का प्रबन्ध भी करना पड़ेगा कि जिससे जब बच्चे तनिक बड़े हो जायें तो उनकी माताएं अपने काम पर लौट सकें। परन्तु, इसमें यह लाभ होगा कि स्त्रियां किसी एक पुरुष पर निर्भर करने के स्थान पर—जिसमें उनका सम्मान जाता है—स्वयं अपने बच्चों का लालन-पालन कर सकेंगी। इस तरीके में इस बात को भी स्वीकार किया जायेगा, कि जैसा कि आजकल अधिकाधिक किया जा रहा है, कि बच्चा पैदा करना—जो पहले यौन सन्तोष का परिणाम माना जाता था—अब ऐसा काम हो गया है जो जानबूझ कर किया जाता है। चूंकि यह काम माता-पिता के स्थान पर राज्य के लिए लाभकारी है, इसलिए इसका खर्च पिता और माता पर होने की बजाय, राज्य पर होना चाहिए। इस अन्तिम बात को, परिवार भत्ता की मांग करते समय, स्वीकार किया जाता है। परन्तु अभी तक यह स्वीकार नहीं किया गया कि बच्चों के लिए धन केवल माता को ही दिया जाये। मैं समझता हूँ कि हम यह मान सकते हैं कि मजदूर वर्ग में स्त्रियों के अधिकारों की मांग इतनी बढ़ जायेगी कि इस बात को स्वीकार किया जायेगा और इसे कानून का अंग बना दिया जायेगा।

यदि हम यह मान लें कि इस प्रकार का कानून पास हो गया है, तो इसका प्रभाव परिवार की नैतिकता पर क्या होगा? यह इस बात पर निर्भर है कि इसका मसौदा किस ढंग से तैयार किया गया है। ऐसे कानून का मसौदा इस ढंग का हो सकता है कि यदि किसी स्त्री का बच्चा जारज हो तो उसे कुछ भी न मिले। और या, यह कहा जा सकता है कि यदि एक बार यह साबित हो जाये कि उसने पर-पुरुषगमन किया है, तो धन उसे नहीं वरन् उसके पति को दिया जायेगा। यदि ऐसा कानून बन जाये तो स्थानीय पुलिस का यह कर्त्तव्य हो जायेगा कि वह प्रत्येक विवाहिता स्त्री के पास जाकर उस के नैतिक स्तर की

भलीभांति जांच करे। इसका प्रभाव बड़ा अच्छा हो सकता है परन्तु मुझे इसमें सन्देह दिखाई पड़ता है कि जिनका नैतिक स्तर ऊंचा उठाया जा रहा हो, वे इसे पसन्द करेंगी। मैं समझता हूँ कि कुछ ही समय बाद यह मांग उठना शुरू हो जायेगी कि पुलिस का हस्तक्षेप बन्द हो। इसका तर्कसंगत निष्कर्ष यह होगा कि जारज बच्चों की माताओं को भी भत्ता मिलना चाहिए। यदि वैसा हो जाये तो वेतनभोगी वर्ग में पिता की आर्थिक शक्ति बिल्कुल समाप्त हो जायेगी और सम्भवतः कुछ समय बाद पिता परिवार का अंग नहीं रहेगा, क्योंकि उसका महत्व केवल उतना ही होगा जितना कि कुत्ते-बिल्लियों में होता है।

परन्तु आजकल किसी एक स्त्री के मन में बहुधा घर का ऐसा आतंक होता है कि मैं समझता हूँ, अधिकतर स्त्रियां यह पसन्द करेंगी कि वे वही काम जारी रखें जो कि वे विवाह से पहले करती थीं, न कि यह पसन्द करेंगी कि उन्हें अपने बच्चों के लालन-पालन के लिये भत्ता दिया जाये। ऐसी स्त्रियों की संख्या काफी होगी, जो शिशु-पालन केन्द्रों में बच्चों की देख-भाल करने के लिए अपने घर छोड़ने को तैयार होंगी; क्योंकि वह वृत्तिजनक काम होगा। परन्तु मैं समझता हूँ कि यदि काम करने वाली स्त्रियों को छूट दी जाये तो उनमें से अधिकतर, घर में अपने बच्चों के लालन-पालन के लिए भत्ता पाकर उतनी सुखी नहीं होंगी जितनी कि इस बात में कि वे घर छोड़कर जीविका कमाने के लिए उसी काम पर जायें जिसे वे विवाह से पहले करती थीं। परन्तु यह तो अपनी-अपनी राय की बात है और मैं यह दावा नहीं करता कि मेरी राय का कोई निर्णायक आधार है। जो भी हो, हमने जो कुछ कहा है यदि उसमें कोई सच्चाई है तो ऐसा लगता है कि विवाहित स्त्रियों में अपने अधिकारों के आन्दोलन के विकास के कारण, निकट भविष्य में, पूंजीवादी समाज की व्यवस्था में भी, वेतनभोगी वर्ग में बच्चों की देखभाल से माता-पिता दोनों का नहीं, तो कम से कम एक का तो सम्बन्ध टूट ही जायेगा।

पुरुषों के प्रभुत्व के विरुद्ध स्त्रियों का विद्रोह ऐसा आन्दोलन है, जो शुद्ध राजनीतिक अर्थ में तो लगभग सम्पूर्ण हो चुका है परन्तु और व्यापक पहलुओं में अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही है। धीरे-धीरे इसके सूक्ष्म प्रभाव भी होने

लगेंगे। स्त्रियों को जिन भावों की अनुभूति होनी चाहिए, वे अभी तक पुरुषों के हितों और मनोभावों के प्रतिबिम्ब मात्र हैं। आप पुरुषों द्वारा लिखित उपन्यासों में पढ़ेंगे कि माता को अपने बच्चे को दूध पिलाने में शारीरिक सुख की अनुभूति होती है। आप अपनी किसी परिचित स्त्री से—जो मां हो—यह पूछें तो पता चलेगा कि ऐसी बात नहीं है। परन्तु जब तक स्त्रियों को मताधिकार नहीं मिला था किसी पुरुष ने यह सोचा भी नहीं था। पुरुष मातृत्व के भावों को, अपनी उपचेतना में अपने प्रभुत्व के साधन के रूप में देखते थे। इस कारण उन पर इतना अधिक रंग चढ़ चुका है कि यह जानने के लिए काफ़ी प्रयत्न करना पड़ेगा कि स्त्रियां इस सम्बन्ध में क्या सोचती हैं। अभी हाल तक, यह समझा जाता था कि सभी भद्र स्त्रियां सन्तान की इच्छा करती हैं परन्तु सेक्स से उन्हें घृणा है। आज भी जब स्त्रियां स्पष्ट रूप से यह कहती हैं कि उन्हें सन्तान की इच्छा नहीं है तो बहुत से पुरुषों को यह सुनकर धक्का पहुँचता है। सच तो यह है कि पुरुषों द्वारा ऐसी स्त्रियों को उपदेश देना असाधारण बात नहीं है। जब तक स्त्रियाँ पराधीन थीं उनमें इतना साहस नहीं था कि अपने भावों को सच-सच व्यक्त कर सकें। वे केवल उन भावों को प्रकट करती थीं जिनसे पुरुष को सन्तोष होता हो। इसलिए, अब तक बच्चों के सम्बन्ध में स्त्रियों का जो सामान्य दृष्टिकोण समझा जाता रहा है, उसके आधार पर आगे तर्क नहीं किया जा सकता। यह इसलिए कि सम्भव है हम देखें कि ज्यों-ज्यों स्त्रियां पुरुषों के प्रभुत्व से मुक्त हों, उनके भाव साधारणतया उससे कहीं अधिक भिन्न हों जैसे कि अब तक समझे जाते थे। मैं समझता हूँ कि सभ्यता के कारण—कम से कम जिस रूप में अब तक रही है—स्त्रियों में मातृत्व की भावनाओं में ह्रास की बहुत प्रवृत्ति रहती है। यह भी सम्भव है कि भविष्य में ऊंची सभ्यता तब तक न बनी रह सके जब तक कि स्त्रियों को बच्चे पैदा करने के लिए उतनी राशि न दी जाये जिससे वे सन्तानोत्पत्ति को धन कमाने की एक अच्छी वृत्ति समझ सकें। यदि वैसा हो गया तो इस बात की आवश्यकता नहीं रहेगी कि सारी स्त्रियां—बल्कि उनमें से अधिकतर भी—इस वृत्ति को अपनाएं। यह अन्य वृत्तियों जैसी ही एक वृत्ति होगी और वृत्ति के समान ही गहनता से अपनाई जायेगी। परन्तु ये

तो अनुमान मात्र हैं। उनमें जो तथ्य लगभग निश्चित दिखाई पड़ता है वह केवल यही है कि स्त्री-अधिकारों के आन्दोलन के विकास के फलस्वरूप उस पितृसत्तात्मक परिवार के छिन्न-भिन्न होने में काफी सहायता मिलेगी, जो कि प्रागैतिहासिक काल में स्त्रियों पर पुरुषों की विजय का प्रतीक रहा है।

पश्चिमी देशों में अभी जहां तक राज्य ने पिता का स्थान ले लिया है वह मुख्यतया बहुत बड़ी प्रगति है। इससे समुदाय के स्वास्थ्य और शिक्षा के सामान्य स्तर में बहुत सुधार हुआ है। इससे बच्चों के प्रति क्रूरता कम हो गयी है और वैसे कष्ट असम्भव हो गए हैं जो डेविड कॉपरफ़ील्ड को उठाने पड़े थे। यह आशा की जा सकती है कि शारीरिक स्वास्थ्य का सामान्य स्तर ऊंचा उठता रहेगा, बौद्धिक उपलब्धियां विकसित होती रहेंगी, विशेषकर इस कारण कि परिवार प्रणाली जहां ग़लत दिशा में चल पड़े, वहां इसकी बुराइयां रोकी जा सकती हैं। परन्तु यदि राज्य परिवार का स्थान ले ले, तो उसमें गम्भीर जोखिम हैं। माता-पिता को साधारणतया अपने बच्चों से स्नेह होता है और वे उन्हें राजनीतिक योजनाओं की सामग्री मात्र नहीं समझते। परन्तु यह आशा नहीं का जा सकती कि राज्य का भी यही दृष्टिकोण रहेगा। जो व्यक्ति संस्थाओं में बच्चों के सम्पर्क में आते हैं—उदाहरण के लिए स्कूलों के अध्यापक—उन्हें यदि अधिक काम न हो और कम वेतन न मिलता हो, तो उनमें माता-पिता जैसी व्यक्तिगत भावना थोड़ी-बहुत रहती है। परन्तु अध्यापकों के पास कोई खास शक्ति नहीं, शक्ति तो प्रशासकों के हाथ में है। प्रशासक उन बच्चों के सम्पर्क में कभी नहीं आते, जिनके जीवन पर उनका नियन्त्रण रहता है। और चूंकि वे प्रशासक टायप के होते हैं, (क्योंकि ऐसे न हों तो उन पदों पर न हों), इसलिए सम्भावना इस बात की है कि उनमें मानवों को साध्य के रूप में नहीं, बल्कि किसी रचना की सामग्री के रूप में, देखने की प्रवृत्ति रहती है। इसके अतिरिक्त प्रशासक सदा एकरूपता पसन्द करता है। आंकड़ों और व्यवस्था के अनुसार वियाजीकरण के लिए एकरूपता बड़ी सुविधाजनक है। और यदि यह एकरूपता "ठीक" ढंग की हो, तो इसका अर्थ यह है कि उस प्रकार के मानवों की संख्या बहुत बड़ी है, जिन्हें वह वांछनीय समझता है। जिन बच्चों को संस्थाओं की दया पर छोड़ दिया

जायेगा, उनमें एक-से होने का रुझान रहेगा और जो स्वीकृत सांचे में नहीं ढल पाएंगे, उन्हें न केवल उनके साथी बल्कि अधिकारी भी कष्ट देंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि जिन बहुत-से बच्चों में ऊंचा उठ सकने की योग्यता होगी उन्हें इतना तंग किया जायेगा कि एक दिन उनका साहस टूट कर रहेगा। इसका मतलब यही है कि अधिकतर बच्चों में—जो स्वीकृत ढांचे में ढल सकेंगे—आत्मविश्वास अत्यधिक होगा। वे संपीड़न आगे झुक जायेंगे और उनमें किसी नये विचार को धैयपूर्वक सुनने की क्षमता बिल्कुल नहीं होगी। और सबसे बुरी बात यह है कि जब तक विश्व प्रतिस्पर्धी सैनिक राज्यों में बंटा हुआ है, शिक्षा में माता-पिता के स्थान पर सार्वजनिक संस्थाओं को प्रतिष्ठित करने का अर्थ यही होगा कि जिसे देशभक्ति कहा जाता है, उसका रूप और उग्र हो जायेगा। अर्थात् जब भी सरकारें कहें, एक दूसरे को समाप्त करने की चेष्टा में संलग्न होने की प्रवृत्ति बढ़ती जायेगी। इसमें सन्देह नहीं कि जिसे देशभक्ति कहा जाता है, वह आज सभ्यता के लिए सबसे बड़ा खतरा है और जिस बात से भी इसकी उग्रता बढ़ती हो, उसे प्लेग, महामारी और दुर्भिक्ष से भी बुरा समझना चाहिए। आजकल युवा पीढ़ी की भक्ति विभक्त हो रही है—एक ओर उन्हें माता-पिता से भक्ति है और दूसरी ओर राज्य से। यदि ऐसा हो जाये कि उनकी भक्ति केवल राज्य के प्रति हो तो इस बात का गम्भीर खतरा है कि दुनिया आज की अपेक्षा अधिक खून की प्यासी बन जायेगी। इसलिए मैं सोचता हूँ कि जब तक अन्तर्राष्ट्रीयता की समस्या का हल नहीं हो पाता, बच्चों की शिक्षा और उनकी देख-भाल में राज्य के बढ़ते हुए अंशदान के कारण इतने गम्भीर खतरे उत्पन्न हो गए हैं जो कि इसके असंदिग्ध लाभों से कहीं अधिक हैं।

परन्तु दूसरी ओर, यदि एक अन्तर्राष्ट्रीय सरकार स्थापित हो जाये, जो राष्ट्रों के झगड़ों का निपटारा शक्ति के प्रयोग के स्थान पर कानून द्वारा करा सके, तो स्थिति बिल्कुल भिन्न हो जायेगी। ऐसी सरकार यह आज्ञा दे सकती है कि किसी भी देश में राष्ट्रवाद अधिक उन्मत्त रूप में शिक्षा-पाठ्यक्रम का भाग न बने। ऐसी सरकार इस बात पर जोर दे सकती है कि अन्तर्राष्ट्रीय अधि-राज्य के प्रति भक्ति की शिक्षा सभी स्थानों पर दी जाये और यह कि राष्ट्रीय

झंडे के प्रति भक्ति के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न की जाये। उस दशा में, अत्यधिक एकरूपता और स्वीकृत सांचे से भिन्न व्यक्तियों के संपीड़न का खतरा तो रहेगा, परन्तु युद्ध का खतरा टल जायेगा। बल्कि, शिक्षा पर अधि-राज्य का नियन्त्रण युद्ध के विरुद्ध सकारात्मक परित्राण होगा। तो निष्कर्ष यह हुआ कि यदि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय हो तो पिता के स्थान पर उसे प्रतिष्ठापित करने से सभ्यता को लाभ होगा। परन्तु जब तक राज्य राष्ट्रीय है और सैनिक प्रवृत्ति वाला है तब तक सभ्यता को युद्ध से खतरा बढ़ता रहेगा। परिवार का ह्रास तीव्रता से हो रहा है और अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास धीरे-धीरे हो रहा है। इसलिए स्थिति ऐसी है कि यदि गम्भीर आशंकाएं होती हैं तो वे उचित ही हैं। जो भी हो, स्थिति निराशाजनक नहीं है, क्योंकि सम्भव है कि भविष्य में अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास पहले कि अपेक्षा अधिक तेजी से हो। सौभाग्यवश, हम यह नहीं कह सकते कि भविष्य में क्या होगा और इसलिए हमें आशा करने का नहीं तो यह सोचने का अधिकार अवश्य है कि आज की अपेक्षा स्थिति में सुधार ही होगा।

अध्याय १६

तलाक़

तलाक़ ऐसी प्रथा है जिस की अनुमति अधिकतर युगों और देशों में कुछ कारणों से दी जाती रही है। तलाक का ध्येय यह तो कभी नहीं रहा कि यह एकविवाह पर आधारित परिवार का विकल्प बन जाये बल्कि केवल यह रहा है कि जहां, विशेष कारणों से, विवाह का जारी रहना असहनीय हो जाये, वहां इस की अनुमति हो जिससे कि कष्ट दूर हो सके। विभिन्न युगों और देशों में तलाक़ सम्बन्धी कानून असाधारण रूप से भिन्न रहा है। आज भी यह विभिन्नता पाई जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में, साउथ केरोलीना-राज्य में तलाक़ की अनुमति नहीं है लेकिन दूसरी ओर नेवाडा राज्य में यह प्रथा अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई है। बहुत-सी ग़ैर-ईसाई सभ्यताओं में पति के लिए तलाक़ प्राप्त करना तो बहुत आसान रहा है। और कुछ में पत्नी के लिए भी तलाक़ लेना सरल था। मोज़िज़ के विधान के अनुसार पति को अनुमति है कि वह पत्नी को तलाक़ दे सकता है। चीन के कानून के अन्तर्गत इस शर्त पर तलाक़ की अनुमति थी कि जो सम्पत्ति पत्नी दहेज में लाई हो, वह उसे लौटा दी जाये। परन्तु कैथॉलिक चर्च किसी भी प्रयोजन के लिए तलाक़ की अनुमति नहीं देता, क्योंकि विवाह को पवित्र संस्कार माना जाता है। परन्तु व्यवहार में यह कड़ाई कम हो जाती है—विशेषकर बड़े आदमियों

---

१. नेवाडा में तलाक़ के आधार हैं: जानबूझकर परित्याग, घोर या जघन्य अपराध का दोषी ठहराया जाना, स्वभावगत मदोन्मत्तता, नपुंसकता, जो विवाह के समय से लेकर तलाक़ के समय तक बराबर जारी रहे, अत्यधिक क्रूरता, एक वर्ष तक भरण-पोषण की व्यवस्था न करना और दो वर्ष तक पागलपन। देखिए 'सेक्स एण्ड सिवलीज़ेशन', सम्पादक : वी०एफ़ क्लेवर्टन और एस०डी० श्मालहॉसेन : जार्ज एलन एन्ड अनविन लिमिटेड, लंदन, १९२६, पृष्ठ २२४।

के लिए—क्योंकि विवाह को शून्य बनाने के कई आधार हैं।[1] ईसाई देशों में तलाक़ के प्रति उदारता उसी अनुपात से रही है जिससे कि प्रोटेस्टेंटवाद रहा है। सभी जानते हैं कि मिल्टन ने तलाक़ के पक्ष में इसलिए लिखा कि वह प्रोटे-स्टेंट था। जिन दिनों इंगलिश चर्च अपने को प्रोटेस्टेंट कहता था, पर-स्त्रीगमन के अपराध पर तलाक़ की अनुमति थी; परन्तु और किसी कारण से नहीं। परन्तु आजकल चर्च ऑफ़ इंगलैण्ड के अधिकतर पादरी सभी प्रकार के तलाक़ के विरुद्ध हैं। स्कैंडेनेविया में कानून ऐसा है कि तलाक़ आसानी से हो सकता है। अमेरिका के अधिकतर प्रोटेस्टेंट प्रदेशों में भी ऐसे ही कानून है। इंगलैण्ड की तुलना में स्काट-लैण्ड तलाक़ के अधिक पक्ष में है। फ्रांस में पादरियों के विरुद्ध भावना होने के कारण तलाक़ आसान है। सोवियत रूस में पति या पत्नी किसी के भी कहने पर तलाक़ मिल सकता है; परन्तु चूंकि रूस में पर-स्त्रीगमन या जारजता होने पर किसी सामाजिक या वैधिक दण्ड का विधान नहीं है, इसलिए कम से कम जहां तक शासन वर्गों का सम्बन्ध है, विवाह का वह महत्व समाप्त हो गया है, जो कि अन्य स्थानों पर है।

तलाक़ के सम्बन्ध में सबसे अद्भुत बात यह है कि कानून और रिवाज में बहुधा अन्तर रहा है। यह आवश्यक नहीं कि यदि कानून के अनुसार तलाक़ सरल बन जाये तो अधिक संख्या में तलाक़ होते हैं। चीन में, हाल की उथल-पुथल से पहले, तलाक़ को कोई जानता भी न था, क्योंकि, कन्फ्यूशस के उदाहरण के होते हुए भी, तलाक़ को सम्मानजनक नहीं समझा जाता है। स्वीडन में पति-पत्नी की परस्पर अनुमति हो तो तलाक़ हो सकता है, परन्तु अमेरिका के किसी भी राज्य में तलाक़ का यह आधार नहीं माना जाता। फिर भी सन् १९२२ में, जिस वर्ष तक के तुलनात्मक आंकड़े मेरे पास हैं, एक लाख जनसंख्या के पीछे स्वीडन

---

१. पाठकों को याद होगा कि मार्लबॅरो के ड्यूक और डचेज़ का विवाह इस आधार पर शून्य ठहराया गया था कि डचेज़ को विवश करके विवाह किया गया था। इस बात के बावजूद कि ये दम्पत्ति कई वर्ष तक इकट्ठे रहे थे और इनके बच्चे भी हुए थे, विवाह-विच्छेद का यह आधार उचित माना गया।

में ३४ तलाक़ होते थे और और अमेरिका में १३६ ।[1] मैं समझता हूँ कि कानून और रिवाज के बीच यह भेद बड़ा महत्वपूर्ण है । यह इस कारण कि यद्यपि मैं इस विषय पर नरम कानून के पक्ष में हूँ, परन्तु जब तक परिवार में साधारणतया माता और पिता दोनों का होना आवश्यक माना जाता है, तब तक कुछ दशाओं को छोड़, तलाक़ के विरुद्ध रिवाज बना रहे तो अच्छा है । मेरा यह विचार इस कारण है कि विवाह प्रधानतः यौन साहचर्य नहीं है, बल्कि इसका सबसे बड़ा उद्देश्य यह है कि सन्तानोपत्ति और बच्चों के पालन-पोषण में दम्पति परस्पर सहयोग करें। यह सम्भव बल्कि सम्भाव्य है कि, जैसा हम पहले के अध्यायों में देख चुके हैं, विवाह प्रणाली को जिस रूप में हम देखते हैं वह विभिन्न शक्तियों के प्रभाव में आकर—जिनमें प्रमुख स्थान आर्थिक शक्तियों को प्राप्त है—छिन्न-भिन्न हो जायेगी । परन्तु यदि ऐसा हो गया तो तलाक़ प्रणाली भी छिन्न-भिन्न हो जायगी, क्योंकि यह संस्था विवाह के अस्तित्व पर आधारित है और उसके दुष्प्रभावों के लिए विकास का काम देती है । इसलिए हमारा यह तर्क-वितर्क परिवार के उस ढांचे तक ही सीमित रहेगा जिसमें माता और पिता दोनों ही हैं ।

प्रोटेस्टेंट और कैथॉलिक दोनों ने, साधारणतया, तलाक़ को परिवार के जीवशास्त्रीय प्रयोजन के दृष्टिकोण से नहीं देखा, बल्कि धार्मिक दृष्टिकोण से पाप के बारे में जो संकल्पना होती है उससे इस पर विचार किया है। कैथॉलिक चूंकि यह मानते हैं कि ईश्वर की दृष्टि में विवाह अटूट है, इसलिए अनिवार्य रूप से उनका मत यह है कि जब स्त्री-पुरुष विवाह के बन्धन में बंध जाते हैं तो चाहे विवाह में कुछ भी होता रहे उनमें से कोई भी, दूसरे के जीवनकाल में किसी अन्य व्यक्ति के साथ सम्भोग नहीं कर सकता क्योंकि ऐसा सम्भोग पापमय होगा। प्रोटेस्टेंट लोगों ने जहां तक तलाक़ का पक्ष लिया है, उसका कुछ कारण तो यह है कि वे संस्कारों के सम्बन्ध में कैथॉलिक सिद्धान्त के विरुद्ध हैं और कुछ यह

---

१. उसके बाद से स्वीडन में तलाकों और शून्य ठहराए गए विवाहों की संख्या सन् १९२३ में १५३१ थी और सन् १९२७ में १९६६ हो गयी जब कि संयुक्त राज्य अमेरिका में इसी काल में तलाक़ों की संख्या १३.४ प्रतिशत से बढ़कर १५ प्रतिशत हो गई ।

कि उन्होंने यह देखा कि विवाह का अटूट होना पर-स्त्रीगमन और पर-पुरुष-गमन का एक कारण है। और उनका विश्वास था कि तलाक़ की सुविधा होने से पर-स्त्रीगमन को कम करने में अधिक कठिनाई नहीं होगी। इसीलिए हम देखते हैं कि जिन प्रोटेस्टेंट देशों में विवाह आसानी से टूट सकता है, वहां पर-स्त्रीगमन को बहुत बुरा माना जाता है। परन्तु जिन देशों में तलाक़ की अनुमति नहीं, वहां पर-स्त्रीगमन और पर-पुरुषगमन को पाप तो समझा जाता है लेकिन पर-स्त्री-गमन हो, तो उसे हंसकर टाल दिया जाता है। जार कालीन रूस में, जबकि तलाक़ पाना अत्यन्त कठिन था, गोर्की की राजनीति के सम्बन्ध में लोगों के विचार चाहे जो भी रहे हों, उसके निजी जीवन के कारण उसे बुरा नहीं समझा गया। इसके विपरीत अमेरिका में उसके राजनीतिक विचारों पर किसी ने आपत्ति नहीं की, परन्तु नैतिक आधार पर बड़ी ले-दे हुई और कोई भी होटल उसे रात भर ठहरने का स्थान देने को तैयार नहीं हुआ।

इस सम्बन्ध में, औचित्य के आधार पर न तो प्रोटेस्टेंट दृष्टिकोण को अच्छा कहा जा सकता है और न कैथॉलिक दृष्टिकोण को। पहले हम कैथॉलिक दृष्टि-कोण पर ही विचार करते हैं। मान लीजिए, विवाह के बाद पति या पत्नी में से कोई एक पागल हो जाता है। इस दशा में यह वांछनीय नहीं है कि उस पागल के अंकुर से बच्चे उत्पन्न हों और न यही उचित है कि जो बच्चे पहले से हो चुके हों वे पागल के सम्पर्क में आएं। इसलिए, दम्पत्ति में से जो पागल है, उसे उन्माद के दौरे चाहे जल्दी-जल्दी आते हैं या देर में, बच्चों के हित में उनके माता-पिता का बिलकुल अलग हो जाना वांछनीय है। यह कहना कि इस दम्पत्ति में से जो स्वस्थ हो उसे किसी अन्य के साथ विधि द्वारा स्वीकृत यौन सम्बन्ध स्थापित करने की अनुमति नहीं होनी चाहिए, विवेक-रहित क्रूरता है जिससे कोई भी सार्वजनिक प्रयोजन पूरा नहीं होता। स्वस्थ साथी को अपने लिए रास्ता ढूंढ़ना कठिन हो जाता है। वह या तो संयम धारण का निर्णय कर ले जिसकी आशा कानून और नैतिकता करते हैं; या यह रास्ता है कि वह छिप कर सम्बन्ध स्थापित करे, जिसके फलस्वरूप बच्चे न हों। और या खुले आम ऐसा जीवन बिताए जिसे पापमय कहा जाता है और जिसके फल-

स्वरूप सम्भव है बच्चे हों या न भी हों। इनमें से कोई भी रास्ता अपनाया जाये, उस पर घोर आपत्ति की जा सकती है। सेक्स का सर्वथा परित्याग बड़ा कष्टप्रद होता है—विशेषकर उस व्यक्ति के लिए जो विवाह के कारण उसका आदी बन गया हो। इस परित्याग के कारण पुरुष या स्त्री बहुधा समय से पहले ही बूढ़े हो जाते हैं। इसके कारण स्नायविक विकार होने की सम्भावना भी रहती है। जो भी हो, अपने पर संयम रखने में इतनी कड़ी चेष्टा करनी पड़ती है कि चरित्र में सुशीलता का अभाव हो जाता है, दुर्भाव आ जाता है और व्यक्ति चिड़चिड़ा बन जाता है। पुरुष के सम्बन्ध में तो यह खतरा सदा बना रहता है कि कहीं उसका आत्मसंयम अचानक टूट न जाये। उस दशा में वह पशुता पर उतर आता है, क्योंकि यदि उसे सचमुच यह विश्वास हो जाये कि पत्नी के अतिरिक्त किसी अन्य स्त्री से सम्भोग करना बुरी बात है, तो इस प्रकार के सम्भोग की इच्छा होने पर वह यह सोचने लगता है कि 'जहां नाश तहां सत्यानाश' और इसलिए फिर वह सारे नैतिक बन्धन तोड़ देता है।

ऐसी स्थिति में, जिस पर हम विचार कर रहे हैं, सबसे अधिक प्रयोग दूसरे विकल्प का किया जाता है, अर्थात् ऐसे व्यक्ति छिप कर ऐसा यौन सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, जिसके फलस्वरूप बच्चे न हों। इस पर भी घोर आपत्ति की जा सकती है। लुक-छिप कर जो भी करना पड़े वह अवांछनीय होता है और जो यौन सम्बन्ध गम्भीर हों उनमें, मिलजुल कर जीवन बिताए बिना और सन्तानोत्पत्ति बिना, सर्वांगीण विकास नहीं हो पाता। और फिर यदि पुरुष या स्त्री युवा और संजीवन हों तो उनसे यह कहना सार्वजनिक हित में नहीं है कि 'तुम अधिक बच्चे पैदा नहीं करोगे।" और यह कहना भी सार्वजनिक हित में नहीं है जैसे कि वास्तव में कानून कहता है कि, "तुम तब तक और बच्चों के बाप या मां नहीं बन सकते जब तक कि इसके लिए पागल मां या बाप न ढूंढ़ लो।"

तीसरा विकल्प, अर्थात् "खुले आम पापमय" जीवन बिताना ही सबसे कम हानिकारक है। जहां यह सम्भव हो वहां व्यक्ति और समुदाय दोनों के लिए यह कम बुरा है, परन्तु आर्थिक कारणों से यह बहुत-सी दशाओं में असम्भव हो

जाता है। कोई डाक्टर या वकील पापमय जीवन विताने की चेष्टा करे तो उसके पास रोगी या मुवक्किल आने बन्द हो जायेंगे। विद्या-वृत्ति में लगा हुआ व्यक्ति फ़ौरन पदच्युत कर दिया जायगा।[1] आर्थिक परिस्थितियों के कारण खुले आम पापमय जीवन विताना असम्भव न भी हो तो भी बहुत से लोग सामाजिक दण्ड के डर से ही इसे नहीं अपनाएंगे। पुरुष चाहते हैं कि वे क्लबों के सदस्य हो सकें और स्त्रियों की इच्छा यह रहती है कि उन्हें सम्भ्रान्त माना जाये और अन्य स्त्रियां उनसे मिलने आएं। इन सुखों से वंचित होना स्पष्ट ही बहुत बड़ा कष्ट समझा जाता है। परिणाम यह है कि धनी व्यक्तियों और कलाकारों, लेखकों तथा अन्य लोगों का छोड़, जिनकी वृत्ति ऐसी है कि वे कमोबेश उन्मुक्त समाज में रह सकते हैं, दूसरों के लिए खुले आम पापमय जीवन विताना कठिन हो जाता है।

तो यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस देश में, जैसे इंगलैण्ड, पागलपन के आधार तर तलाक़ की अनुमति न हो, वहां उस पुरुष या स्त्री के लिए जिसकी पत्नी या पति पागल हो गया हो, बड़ी असहनीय स्थिति उत्पन्न हो जाती है। और धार्मिक अंधविश्वास के अतिरिक्त, किसी दूसरे तर्क के आधार पर इस स्थिति को औचित्यपूर्ण नहीं ठहराया जा सकता। और जो बात पागलपन के बारे में सच है, वही रतिरोग से पीड़ित व्यक्ति, स्वभावतः अपराधी और स्वभावतः शराबी पर भी लागू होती हैं। ये सब बातें ऐसी हैं जो विवाह को प्रत्येक दृष्टिकोण से नष्ट कर देती हैं। इनके कारण साहचर्य असम्भव हो जाता है, सन्तानोत्पत्ति अवांछनीय बन जाती है और दोषी माता या पिता का बच्चों के सम्पर्क में आना ऐसी बात है, जिसे रोका जाना चाहिए। इसलिए ऐसे मामलों में, तलाक़ का विरोध केवल इस आधार पर हो सकता है कि विवाह ऐसा जाल है जिसमें भोले-भाले लोग फंस जाते हैं और दुःखों की अग्नि में जल कर पवित्र होते रहते हैं।

परित्याग, यदि वास्तव में हो, तो उसको तलाक़ का एक आधार अवश्य

---

१. यह बात और है कि वह किसी पुराने विश्वविद्यालय में अध्यापक हो और किसी ऐसे लॉर्ड का सम्बन्धी हो, जो मन्त्रिमण्डल का सदस्य हो।

मानना चाहिए; क्योंकि इस दशा में तलाक़ की आज्ञा कानून में उस बात को स्वीकार करने के बराबर है जो कि यथार्थ में है, अर्थात् यह, कि विवाह टूट चुका है। परन्तु कानून की दृटि से इस सम्बन्ध में यह असुविधा है कि यदि परित्याग को तलाक़ का आधार मान लिया जाये तो लोग तलाक़ पाने के लिए उसी का सहारा लेंगे और उस दशा में परित्याग अधिक संख्या में होंगे। यही कठिनाई विभिन्न कारणों के सम्बन्ध में उत्पन्न होती है जो कि अपने-आप में बिल्कुल उचित हैं। बहुत से दम्पत्तियों की अलग होने की अभिलाषा इतनी उग्र होती जा रही है कि वे किसी ऐसे साधन को अपनाने के लिए तैयार हो जायंगे, जिसकी अनुमति कानून देता हो। पिछले दिनों जैसा कि इंगलैण्ड में था, पुरुष को तलाक़ उसी दशा में दिया जा सकता था जब वह पर-स्त्रीगमन के साथ-साथ क्रूरता का भी दोषी हो, तो बहुधा ऐसा होता था कि वह अपनी पत्नी से ऐसा कार्यक्रम बना लेता था जबकि वह अपने नौकरों के सामने पत्नी को पीटता था जिससे यह साक्ष्य मिल जाये कि क्रूरता बरती गयी है। जो व्यक्ति एक दूसरे से अलग होने के लिए आतुर हों, उन्हें साथ रहने पर कानूनी आधार पर विवश करना पूरी तरह वांछनाय है या नहीं, यह प्रश्न ही दूसरा है परन्तु न्याय तो यही है कि हम यह मान लें कि तलाक़ के जो भी आधार स्वीकार किए जायेंगे, लोग उनसे पूरा-पूरा लाभ उठाएंगे, और कई लोग तो जान-बूझकर ऐसे काम करेंगे जिससे कि वे आधार बन सकें। परन्तु हमें कानूनी कठिनाइयों की उपेक्षा करके, उन परिस्थितियों पर विचार करते रहना चाहिए जिन के कारण किसी विवाह का बना रहना सचमुच अवांछनीय हो जाता है।

मेरा विचार है कि पर-स्त्रीगमन या पर-पुरुषगमन को तलाक़ का आधार नहीं मान लेना चाहिए। यदि लोगों पर रूढ़ निषेधों का प्रभुत्व न हो या नैतिक संकोच उनके रास्ते में बाधा न डालता हो तो, इस बात की बहुत कम सम्भावना है कि उनके मन में कभी-कभी पर-स्त्रीगमन या पर-पुरुषगमन का आवेग नहीं उठेगा। परन्तु इन मनोवेगों का अभिप्राय अनिवार्य रूप से यह नहीं है कि विवाह अब अपने प्रयोजन को पूरा नहीं कर रहा है। सम्भव है कि पति-पत्नी का परस्पर प्रगाढ़ स्नेह हो और यही कामना हो कि विवाह सम्बन्ध बना रहे।

उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि पुरुष को अपने काम के सिलसिले में कई महीने तक घर से बाहर रहना पड़ता है। यदि वह वीर्यवान् है तो चाहे उसे अपनी पत्नी से कितना ही प्रेम क्यों न हो, उस के लिए इतने महीने तक संयमी रहना कठिन हो जायेगा। उसकी पत्नी को परम्परानिष्ठ नैतिकता के ठीक होने का पूरा विश्वास न हो तो उस पर भी यही बात लागू होती है। ऐसी परिस्थितियों में बेवफ़ाई के कारण दाम्पत्य सुख में बाधा नहीं आनी चाहिए और सच तो यह है कि जहां, पति-पत्नी ईर्ष्या का ताण्डव नृत्य दिखाना आवश्यक न समझते हों, वहां ऐसी बाधा पड़ती भी नहीं। हम इस से भी आगे जा कर यह कह सकते हैं कि यदि पति पत्नी में परस्पर मानसिक स्नेह बना रहे तो दोनों को एक दूसरे के इस प्रकार के अस्थायी आवेश को सहन कर लेना चाहिए, जो कि सदा आ सकता है। परम्परानिष्ठ नैतिकता ने पर-स्त्री गमन या पर-पुरुष गमन की मनोवृत्ति को झुठला दिया है क्योंकि इसमें—एक विवाह प्रणाली वाले देशों में—यह मान लिया जाता है कि किसी एक व्यक्ति से प्रगाढ़ स्नेह हो तो किसी दूसरे के प्रति आकर्षण नहीं हो सकता। सभी जानते हैं कि यह बात गलत है लेकिन ईर्ष्या के प्रभाव में आकर सभी ग़लत सिद्धान्त का अनुकरण कर सकते हैं और तिल का ताड़ बना सकते हैं। इसलिए सिवाय उन दशाओं के जहां दम्पत्ति किसी अन्य को एक दूसरे की तुलना में अच्छा समझते हों, पर-स्त्रीगमन या पर-पुरुषगमन तलाक़ का अच्छा आधार नहीं है।

यह कहते समय मैं निस्सन्देह यह कल्पना कर रहा हूँ कि दम्पति के अतिरिक्त किसी अन्य के साथ मैथुन के परिणामस्वरूप बच्चे नहीं होंगे। परन्तु जहां जारज सन्तान हो जाती है, वहाँ मामला और भी उलझ जाता है। यह बात उस दशा में विशेषकर सच होती है जहाँ बच्चे पत्नी के हों; क्योंकि उस दशा में, यदि विवाह बना रहे, पति को किसी अन्य पुरुष के बच्चे अपने बच्चों के साथ (और बदनामी से बचने के लिए) अपने बच्चों के समान पालने पड़ते हैं। यह विवाह के जीवशास्त्रीय आधार के विरुद्ध है और इसमें एक असहनीय सहजवृत्ति-मूलक तत्व आ जाता है। गर्भरोधकों के आविष्कार से पहले इस आधार पर पर-स्त्रीगमन या पर-पुरुषगमन, सम्भवतः उस महत्व का पात्र था जोकि उसे

दिया जाता था; परन्तु गर्भरोधकों के कारण इस प्रकार के मैथुन और सन्तानोत्पत्ति के सहभागिता के रूप में विवाह के बीच भेद करना पहले की अपेक्षा कहीं अधिक सम्भव हो गया है। इस आधार पर अब पर-स्त्रीगमन या पर-पुरुषगमन को उस महत्व की अपेक्षा कम महत्व देना सम्भव हो गया है जो कि परम्परानिष्ठ आचार संहिता में दिया जाता था।

तलाक़ जिन आधारों पर वांछनीय हो सकता है वे दो प्रकार के हैं। एक तो वे हैं जो पति या पत्नी के अवगुणों के कारण हैं, जैसे पागलपन, मदिरोन्माद और अपराध। और दूसरे वे हैं जो पति-पत्नी के सम्बन्धों पर आधारित हैं। सम्भव है कि दम्पत्ति के लिए परस्पर सद्भावना से या बहुत बड़ा बलिदान दिए बिना रहना असम्भव हो। और इसमें दोनों में से किसी का दोष भी न हो। सम्भव है कि दोनों को महत्वपूर्ण काम करना हो और उस काम के कारण दोनों का अलग-अलग स्थान पर रहना आवश्यक हो। सम्भव है कि उन में से एक, दूसरे से अरुचि हुए बिना किसी अन्य व्यक्ति पर आसक्त हो जाये और यह प्रेम इतना प्रगाढ़ हो कि उसे विवाह असहनीय बन्धन मालूम होने लगे। उस दशा में यदि क़ानून में कोई उपचार न हो, तो परस्पर घृणा अवश्य जाग उठेगी। बल्कि, जैसा सभी जानते हैं ऐसे मामलों में हत्या तक हो सकती है। जहां विवाह अननुरूपता या इस कारण टूट जाये कि दम्पत्ति में से किसी एक का किसी अन्य व्यक्ति के साथ उग्र प्रेम हो गया है, वहां उस पर दोष लगने की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए जैसी कि आजकल है। इस कारण, ऐसे मामलों में तलाक़ का सर्वोत्तम आधार परस्पर सहमति ही होना चाहिए। परस्पर सहमति के अतिरिक्त किसी और आधार की आवश्यकता वहीं होनी चाहिए जहां दम्पत्ति में से किसी एक के निश्चित विकार के कारण विवाह असफल हुआ हो।

तलाक़ सम्बन्धी कानून बनाने में बहुत बड़ी कठिनाई है, क्योंकि कानून चाहे जो भी हो, जज और ज्यूरी के लोग अपने मनोवेशों से प्रभावित होकर काम करेंगे। और पति व पत्नियां कानून बनाने वालों के अभिप्राय से बचने के लिए जो भी आवश्यक होगा करेंगी। यद्यपि इंगलैण्ड के कानून में यह व्यवस्था है कि जब पति-पत्नी में परस्पर तलाक़ पाने का करार हो तो तलाक़ नहीं मिल

सकता, परन्तु सभी जानते हैं कि व्यवहार में ऐसा करार अवश्य होता है। न्यूयार्क राज्य में ऐसी घटनाओं कमी नहीं हैं, जब कि लोग इससे भी आगे बढ़ जाते हैं और कानून में पर-स्त्रीगमन की जो व्यवस्था है, उसके अनुसार उसे प्रमाणित करने के लिए झूठे गवाह ले आते हैं। सिद्धान्त में तो क्रूरता तलाक़ के लिए पर्याप्त आधार है, परन्तु इसका निर्वचन ऐसे ढंग से भी हो सकता है जो बिल्कुल वेहूदा हो। एक सर्वप्रसिद्ध फ़िल्म अभिनेता को उसकी पत्नी ने क्रूरता के आधार पर तलाक़ दिया। क्रूरता के प्रमाण में एक बात यह भी कही गयी कि वह अपने साथ ऐसे मित्रों को घर लाता था जो (जर्मन दार्शनिक) कांट के सम्बन्ध में बात करते थे। मैं यह नहीं मान सकता कि कैलिफ़ोर्निया के कानून बनाने वालों का अभिप्राय यह था कि कोई स्त्री अपने पति को इस आधार पर तलाक़ दे सके कि वह कभी-कभी उसके सामने बुद्धिमत्तापूर्ण वार्तालाप करने का दोषी है। इस इस प्रकार की गड़बड़, छल कौर वेहूदगी का एकमात्र उपचार यही है कि जहां दम्पत्ति में से एक की तलाक़ की इच्छा के औचित्य का कोई निश्चित और प्रत्यक्ष कारण न हो, जैसे कि पागलपन, वहां दोनों की सहमति से तलाक़ होना चाहिए। तब दोनों को धन का लेन-देन न्यायालय से बाहर ही करना होगा और किसी को भी इस बात की आवश्यकता नहीं होगी कि दूसरे को अन्यायी राक्षस प्रमाणित करने के लिए चतुर व्यक्तियों को नौकर रखे। साथ ही मैं यह भी कह दूं कि आजकल विवाह तभी शून्य ठहराया जाता है जब कि मैथुन असम्भव हो। परन्तु होना यह चाहिए कि जब विवाह के फलस्वरूप सन्तान न हुई हो तो प्रार्थना किए जाने पर विवाह को शून्य करार दे देना चाहिए। अर्थात्, यदि बिना बच्चों वाले पति-पत्नी अलग होना चाहें तो उन्हें अनुमति इस डाक्टरी प्रमाणपत्र के आधार पर मिल जानी चाहिए कि पत्नी गर्भिणी नहीं है। विवाह का प्रयोजन बच्चे ही हैं और बच्चे न होने की दशा में भी दम्पत्ति को विवाह के बन्धन में बांधे रखना क्रूरतापूर्ण धोखा है।

यह तो हुआ तलाक़ सम्बन्धी कानून; रिवाज की बात दूसरी है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, सम्भव है कि कानून के फलस्वरूप तलाक़ को आसान बना दिया जाये, परन्तु सम्भव है कि प्रथा के कारण तलाक़ यदा-कदा ही हो

अमेरिका में तलाक़ बहुत अधिक होता है। मैं तो समझता हूँ कि उसका कारण कुछ यह है कि लोग विवाह में वह बात ढूंढते हैं जो नहीं ढूंढनी चाहिए और कुछ अंश तक यह भी कि पर-स्त्रीगमन या पर-पुरुषगमन को सहन नहीं किया जाता। विवाह को तो स्त्री और पुरुष दोनों को ऐसी सहभागिता समझना चाहिए जो कम से कम उनके बच्चों के बड़े होने तक वर्तमान रहे और उसे अस्थायी प्रेम की दया पर निर्भर नहीं मानना चाहिए। यदि जनता या सम्बद्ध व्यक्तियों की अन्तरात्मा इस प्रकार के अस्थायी प्रेम को सहन नहीं करेगी तो वह प्रेम बढ़कर विवाह के रूप में फलीभूत होगा। इसका परिणाम यहां तक हो सकता है कि वह परिवार प्रणाली ही समाप्त हो जाये, जिसमें माता और पिता दोनों का स्थान है। यह इसलिए कि यदि स्त्री को हर दो वर्ष के बाद नया पति चाहिए और प्रत्येक पति से सन्तान हो, तो बच्चे अपने पिताओं से वंचित हो जायेंगे और इस प्रकार विवाह का अस्तित्व-कारण ही समाप्त हो जायेगा। अब हम फिर सेन्ट पॉल पर आते हैं : कान्थियन जनता के नाम सेन्ट पॉल के **फर्स्ट एपिस्टल** (पहले पत्र) के समान अमेरिका में भी विवाह को अनूढ़ागमन का विकल्प माना जाता है। इसलिए यदि पुरुष तलाक़ न मिल सकने की दशा में अनूढ़ागमन करता है तो उसे तलाक़ लेना पड़ता है।

जब विवाह को बच्चों के संदर्भ में देखा जाता है, तो नया आचारशास्त्र बन जाता है। इसलिए यदि पति-पत्नी को अपने बच्चों से प्रेम है तो वे अपने आचरण को इस ढंग से विनियमित करेंगे जिससे कि उनके बच्चों को सुखमय और स्वस्थ विकास के सर्वोत्तम अवसर प्राप्त हों। सम्भव है कि कभी-कभी इसके लिए काफी आत्म दमन करना पड़े। और इसके लिए यह निश्चय ही आवश्यक है कि दोनों यह महसूस करें कि उनके प्रेम-भावों की तुलना में बच्चो का दावा कहीं अधिक है। परन्तु यह तो अपने-आप ही होगा और उस दशा में स्वाभाविक रूप से होगा जहां माता-पिता का प्रेम यथार्थ हो और झूठी नैतिकता के कारण ईर्ष्या न भड़क उठती हो। कुछ ऐसे भी हैं जो यह कहते हैं कि यदि पति-पत्नी का परस्पर प्रगाढ़ प्रेम न रहे और वे एक दूसरे को किसी अन्य के साथ यौन अनुभव करने से न रोक सकें, तो उनके लिए अपने बच्चों की शिक्षा में समुचित सहयोग करना

असम्भव हो जाता है। मि० वाल्टर लिपमैन का कहना है : "जो दम्पति एक दूसरे के प्रेमी नहीं हैं वे सन्तानोत्पत्ति में वास्तविक सहयोग से काम नहीं लेंगे जैसा कि मि० बर्ट्रेंड रसेल का विचार है। वे विमुख और अपर्याप्त रहेंगे और सब से बुरी बात यह है कि वे केवल कर्तव्य की भावनासे प्रेरित होंगे।"[1] सबसे पहली और छोटी-सी बात तो यह है कि इस में, सम्भवतः बिना किसी इरादे के, ग़लत बात कही गई है। इसमें सन्देह नहीं कि जो दम्पत्ति प्रेमी नहीं हैं वे संतानोत्पत्ति में सहयोग नहीं करेंगे; परन्तु बच्चों का मामला उनके जन्म लेते ही तो समाप्त नहीं हो जाता जैसा कि मि० वाल्टर लिपमैन के कथन से प्रकट होता है। और प्रगाढ़ प्रेम के ह्रास के बाद भी बच्चों के लालन-पालन में परस्पर सहयोग करना समझदार व्यक्तियों के लिए, जो स्वाभाविक स्नेह कर सकते हों, अति मानवीय काम नहीं है। इसका साक्ष्य मैं बहुत से मामलों के सम्बन्ध में अपने व्यक्तिगत ज्ञान के आधार पर दे सकता हूँ। यह कहना कि ऐसे माता-पिता "केवल कर्तव्य से प्रेरित" होंगे, माता-पिता के स्नेह की भावना की उपेक्षा करना है। जहाँ यह भावना सच्ची और बलवती हो, वहां इसके कारण, शारीरिक प्रेम के ह्रास के बहुत बाद भी पति और पत्नी के बीच अटूट सम्बन्ध रहता है। यह समझना पड़ेगा कि मि० लिपमैन ने फ्रांस का नाम ही नहीं सुना, जहाँ इस बात के होते हुए भी कि पर-स्त्रीगमन और पर-पुरुष-गमन की स्वतन्त्रता असाधारण रूप से विद्यमान है, परिवार शक्तिशाली है और माता-पिता बड़े कर्त्तव्यपरायण हैं अमेरिका में परिवार की भावना अत्यधिक दुर्लभ है और यही कारण है कि यहाँ तलाक़ इतना अधिक होता है। जहां परिवार की भावना शक्तिशाली हो वहां, तलाक़ चाहे कानून के अन्तर्गत आसान हो, वह अपेक्षतया कम होगा। अमेरिका में जिस प्रकार तलाक़ आसान है उससे तो यही लगता है कि यह संक्रमण काल है और परिवार का रूप बदल रहा है, जिसका परिणाम यह होगा कि उसमें माता और पिता दोनों के लिए स्थान नहीं रहेगा, बल्कि परिवार माता पर ही आधारित हो जायेगा। परन्तु इस अवस्था में बच्चों के लिए बड़ी कठिनाइयां होती हैं, क्योंकि संसार का जो रूप है उसमें बच्चे यह आशा करते हैं कि उनकी मां हो तो बाप भी हों, और हो सकता है कि तलाक़ से पहले उन्हें अपने

---

१. प्रिफ़ेस टु मॉरेल्स, १६२६, पृष्ठ ३०८।

पिता से प्रगाढ़ प्रेम हो जाये। मैं समझता हूँ कि जब तक परिवार में माता और पिता दोनों का स्थान है तब तक जो माता-पिता बिना किसी गम्भीर कारण के तलाक़ देते हैं वे अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा कर रहे हैं। मेरे विचार में यदि लोगों को विवाह बनाए रखने के लिए कानून द्वारा विवश कर दिया जाये तो उससे समस्या हल नहीं होगी। मुझे ऐसा लगता है कि पहली आवश्यक बात तो यह है कि दम्पत्ति एक दूसरे को तनिक स्वतंत्रता दें जिससे विवाह अधिक स्थायी हो जाये, और दूसरी यह कि बच्चों के महत्व को महसूस किया जाये, जो कि सेक्स के दबाव के बीच आ गया है और जिसका उत्तरदायित्व सेन्ट पॉल और रोमेंटिक आन्दोलन के प्रभाव पर है।

निष्कर्ष यह हुआ कि बहुत से देशों में, जिनमें इंगलैण्ड भी है, तलाक़ बहुत कठिन है; परन्तु आसानी से तलाक़ मिलने लगे तो भी विवाह की समस्या का वास्तविक समाधान नहीं होता। यदि विवाह प्रणाली को बनाए रखना है तो बच्चों के हित में विवाह के स्थायित्व का बड़ा महत्व है परन्तु इस प्रकार का स्थायित्व लाने का सर्वोत्तम उपाय यही है कि विवाह और निरे यौन सम्बन्धों के बीच भेद किया जाये और विवाहित प्रेम के रोमेंटिक पहलू पर बल देने की बजाय जीवशास्त्रीय पहलू पर बल दिया जाये। मैं यह नहीं कहता कि विवाह को दुर्वह कर्त्तव्यों से मुक्त किया जा सकता है। मैं जिस प्रणाली को अपनाने के लिए कह रहा हूँ, उसमें यह सच है कि पुरुष सेक्स-सम्बन्धी मामलों में पत्नीव्रत के कर्त्तव्य से मुक्त जायेंगे परन्तु इसके बदले में उनका यह कर्त्तव्य होगा कि वे ईर्ष्या को नियंत्रण में रखें। अच्छा जीवन आत्मसंयम के बिना नहीं हो सकता, परन्तु प्रेम जैसी उदार और विस्तारोन्मुख भावना पर बन्धन लगाने के स्थान पर ईर्ष्या जैसी संकुचनशील और द्वेषपूर्ण भावना को रोकना कहीं अधिक अच्छा है। परम्परानिष्ठ नैतिकता में ग़लती यह नहीं रही कि उसने आत्मसंयम की मांग की है बल्कि यह रही है कि उसने ग़लत स्थान पर आत्मसंयम करने को कहा है।

जनसंख्या

विवाह का मुख्य उद्देश्य यह है कि संसार में जनसंख्या को कम न होने दे बल्कि उसे बनाये रखे। कुछ विवाह प्रणालियां ऐसी हैं कि उनके फलस्वरूप यह काम अपर्याप्त होता है और कुछ ऐसी हैं जिनके कारण पर्याप्त से भी अधिक हो जाता है। मैं इस अध्याय में इसी दृष्टिकोण से यौन नैतिकता पर विचार करना चाहता हूँ।

प्राकृतिक अवस्था में, जब समाज का संगठन न हुआ हो, दूध पिलाने वाले जीवों के अस्तित्व के लिए यह ज़रूरी है कि प्रति जीव के लिए काफ़ी बड़ा क्षेत्र हो। इसीलिए बड़े आकार के दूध पिलाने वाले जंगली पशुओं की कुल संख्या कम होती है। भेड़ों और गायों की संख्या बहुत है परन्तु वह मानवों के कारण है। दूध पिलाने वाले, बड़े आकार के अन्य जीवों के अनुपात में, मानवों की जनसंख्या अत्यधिक होती है। परन्तु यह तो निस्सन्देह हमारे कौशल के कारण है। तीर-कमान का आविष्कार, जुगाली करने वाले पशुओं को पालतू बना कर, कृषि आरम्भ कर और औद्योगिक क्रान्ति—इन सभी के द्वारा जनसंख्या में वृद्धि हुई और उन व्यक्तियों की संख्या बढ़ गयी जो कि एक वर्गमील के क्षेत्र में रह सकते हैं। आंकड़ों से हमें पता चलता है कि औद्योगिक क्रान्ति के रूप में जो आर्थिक प्रगति हुई, उसका प्रयोग इसी प्रयोजन के लिए किया गया। इस बात की भी बहुत सम्भावना है कि और तत्वों का भी इस उद्देश्य से प्रयोग किया गया था। मानव की प्रज्ञा का प्रयोग किसी और प्रयोजन की अपेक्षा उसकी संख्या बढ़ाने के लिए अधिक किया गया है।

यह तो सच है कि, जैसा मि० कार सांडर्स ने कहा है, जनसंख्या सामा-

न्यतया एक-सी रही है। और उन्नीसवीं शताब्दीमें जन संख्या में जो वृद्धि हुई वह अत्यधिक असाधारण घटना थी। हम यह मान सकते हैं कि मिस्र और बैबीलोनिया में जब सिंचाई और सावधानी पूर्वक खेती प्रारम्भ हुई तो ऐसी ही बात हुई होगी। परन्तु ऐतिहासिक युग में इस प्रकार की कोई बात हुई दिखाई नहीं पड़ती। उन्नीसवीं शताब्दी से पहले की जनसख्या के आकलन अनुमानों पर ही आधारित हैं परन्तु इस विषय में वे एक मत हैं। इसलिए जनसंख्या का तेज़ी से बढ़ना असाधारण और विरल घटना रही है। यदि जैसा कि अब ज्ञात हो रहा है, अधिकतर सभ्य देशों की जनसख्या में स्थिरता आ रही है, तो इसका अर्थ केवल यह है कि वे एक असाधारण स्थिति में से निकल चुके हैं और मानवता के सामान्य व्यवहार की ओर उन्मुख हो चुके हैं।

जनसख्या के सम्बन्ध में मि० कार सांडर्स की पुस्तक की मुख्य विशेषता यह है कि उसमें यह दिखाया गया है कि लगभग सभी देशों और कालों में मानवों ने स्वेच्छा से जनसंख्या को रोके रखा है और जनसंख्या को स्थिर बनाए रखने में अधिक मृत्यु-दर के कारण जनसंख्या घटाने की अपेक्षा स्वेच्छा से लगाए गए प्रतिबन्ध अधिक प्रभावी रहे हैं। उन्होंने सम्भवत: तनिक अतिशयोक्ति से काम लिया है। उदाहरण के लिए, भारत और चीन में यदि कोई चीज़ जनसंख्या को तेज़ी बढ़ने से रोकती तो वह है ऊंची मृत्यु-दर। चीन के आंकड़े नहीं मिलते, परन्तु भारत के सम्बन्ध में तो मिलते हैं। वहां जन्म-दर बहुत अधिक है लेकिन, फिर भी, जैसा कि मि० कार सांडर्स ने स्वयं लिखा है, जनसंख्या इंगलैण्ड की अपेक्षा कुछ अधिक धीरे बढ़ती है। इसका मुख्य कारण है : शिशुओं की मृत्यु और प्लेग तथा अन्य महामारियाँ। मैं समझता हूँ कि चीन के सम्बन्ध में आंकड़े प्राप्त हों, तो वहां भी ऐसी ही स्थिति दिखाई पड़ेगी। इन महत्वपूर्ण अपवादों के होते हुए भी मि० कार सांडर्स की स्थापना निस्सन्देह मुख्यत: ठीक है। जनसख्या को सीमित रखने बहुत से उपाय काम में लाए गए है। इनमें सबसे सरल उपाय शिशु-हत्या है और जहां भी धर्म ने इसकी अनुमति दी है, इसका उपयोग बड़े पैमाने पर हुआ है। कभी-कभी तो इस व्यवहार का लोगों की मनोवृत्ति पर इतना प्रभाव रहा है कि ईसाई धर्म स्वीकार करते समय उन्होंने

यह शर्त रखी है कि धर्म उनकी शिशु-हत्या की प्रथा में बाधा न डाले।[1] रूस की दुखोबोर जाति के लोग ज़ार सरकार के साथ संघर्ष में आए, तो इसलिए कि वे सैनिक सेवा से इस आधार पर इन्कार करते रहे कि मानव जीवन पवित्र है, परन्तु बाद में कैनाडा की सरकार के साथ उनका झगड़ा इस कारण हुआ कि उनमें शिशु-हत्या की प्रवृत्ति थी। परन्तु इसके सिवा अन्य उपायों का प्रयोग भी किया जाता रहा है। कई जातियों में स्त्री न केवल गर्भावस्था में बल्कि प्रसूति के बाद भी तब तक सम्भोग नहीं कराती जब तक कि उसका बच्चा दूध पीता है और दूध पिलाने का काल दो-तीन वर्ष तक रहता है। इस कारण उसकी प्रजनन क्षमता सीमित रहती है, विशेषकर असभ्य जातियों में। और सभ्य जातियों की तुलना में असभ्य जातियों की स्त्री जल्दी बूढ़ी हो जाती है। आस्ट्रेलिया के आदिवासी एक बड़ा कष्टप्रद आपरेशन करते हैं जिसके कारण पुंसत्व बहुत कम हो जाता है और प्रजनन क्षमता सीमित हो जाती है। जैसा कि हमें उपोद्घात —जैनेसिस[2]—से पता चलता है, पुरातन युग में लोगों को सन्तति निरोध का एक निश्चित उपाय ज्ञात था और उसका प्रयोग भी किया जाता था, हालांकि यहूदी उस उपाय को पसन्द नहीं करते थे क्योंकि उनका धर्म सदा से अत्यन्त माल्थस-विरोधी रहा है। मानव विभिन्न उपायों के प्रयोग से भूख के कारण होने वाली मृत्यु से बचा रहा और यदि वह अपनी प्रजनन शक्ति का पूरा-पूरा प्रयोग करता, तो ऐसा होना निश्चित था।

परन्तु जनसंख्या को कम रखने में भुखमरी का बड़ा हाथ रहा है। हां, बिलकुल प्रारम्भिक परिस्थितियों में सम्भवतः उतना नहीं रहा, जितना कि उन कृषि-समुदायों में, जो बहुत विकसित नहीं थे। सन् १८४६-४७ ई० में आयरलैंड में इतना विकराल दुर्भिक्ष पड़ा था कि उसके बाद जनसंख्या का स्तर पहले जितना नहीं हो पाया। रूस में दुर्भिक्ष बहुत पड़ते रहे हैं और सन् १९२१ ई० का दुर्भिक्ष तो अभी तक सब को याद है। जब मैं सन् १९२० ई० मे चीन में था,

---

१. उदाहरण के लिए, आइसलैंड में ऐसा हुआ। कार सांडर्स कृत 'पाप्युलेशन' १९२५। पृष्ठ १९।

२. जैनेसिस, ३८।९ : १०।

तो उस देश के बहुत से भागों में वैसा ही विकराल दुर्भिक्ष पड़ा हुआ था, जैसा कि एक वर्ष बाद रूस में पड़ा। परन्तु चीन में पीड़ित जनता के साथ वैसी सहानुभूति नहीं दिखाई गयी, जैसी कि अकाल-पीडित रूसियों से क्योंकि चीनियों के दुर्भाग्य का दोष साम्यवाद को नहीं दिया जा सकता था। ऐसे तथ्यों से पता चलता है कि कभी-कभी जनसंख्या निर्वाह-स्तर तक बल्कि उससे भी आगे बढ़ जाती है। परन्तु यह विशेषकर वहां होता है जहां उतार-चढ़ाव के कारण खाद्यानों की मात्रा अचानक बहुत कम हो जाने की सम्भावना रहती है।

ईसाई धर्म ने—जहां-जहां भी इसे अंगीकार किया गया—सयंम के अतिरिक्त जनसंख्या की वृद्धि पर लगाए जाने वाले सभी प्रतिबन्ध समाप्त कर दिए। शिशु-हत्या निषिद्ध हो गयी। साथ ही गर्भ गिराने और सन्तति निरोध के सारे उपायों का निषेध कर दिया गया। यह सच है कि पादरी और भिक्षु-भिक्षुणियां ब्रह्मचारी रहते थे, परन्तु मैं समझता हूँ कि मध्य युगीन योरुप में वे जनसंख्या का उतना बड़ा अंश नहीं थे जितनी कि आजकल इंगलैण्ड में अविवाहित स्त्रियां हैं। इसलिए आंकड़ों की दृष्टि से देखा जाये तो उनकी संख्या प्रजनन शक्ति को सीमित करने वाली नहीं थी। इसी प्रकार, मध्य युग में पुराने समय की तुलना में, निर्धनता और महामारी के कारण अधिक लोग मरे। जनसंख्या धीरे-धीरे बढ़ी। अठारहवीं शताब्दी में वृद्धि की दर तनिक अधिक रही परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के साथ एक असाधारण परिवर्तन आया और जनसंख्या में वृद्धि का दर इतना ऊंचा पहुँच गया जितना कि सम्भवतः पहले कभी नहीं पहुँचा था। अनुमान लगाया गया है कि सन् १०६६ ई० में इंगलैण्ड और वेल्स में जनसंख्या २६ प्रति-वर्गमील थी। सन् १८०१ ई० में यह संख्या बढ़कर १५३ हो गयी थी; और सन् १६०१ ई० में यह बढ़कर ५६१ तक जा पहुँची। तो उन्नीसवीं शताब्दी में कुल वृद्धि, नारमन विजय से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक के काल की तुलना में लगभग चार गुनी है। और फिर इंगलैण्ड और वेल्स में जनसंख्या की वृद्धि से पूरे तथ्य प्रकट नहीं होते क्योंकि उस काल में ब्रिटेन के लोग संसार के उन बहुत से भागों में जाकर बस रहे थे जहां पहले कुछ बर्बर जातियां ही रहती थीं।

जनसंख्या की इस वृद्धि का कारण जन्म-दर की वृद्धि नहीं कहा जा सकता। बल्कि इसका कारण तो यह कहा जा सकता है कि मृत्यु-दर में कमी हुई। जिसका आर्थिक कारण तो यह था कि चिकित्सा विज्ञान की प्रगति हुई। परन्तु मैं सोचता हूँ कि बड़ा कारण यह था कि औद्योगिक क्रान्ति के कारण समृद्धि का स्तर बढ़ता जा रहा था। सन् १८४१ ई० से लेकर—जब कि जन्म-दर का हिसाब रखा जाने लगा—सन् १८७१-७५ ई० तक जन्म दर लगभग स्थिर रहा। बाद के वर्षों में यह अधिकाधिक ३५.५ तक हुआ। इस समय दो घटनाएं घटीं। पहली तो यह थी कि सन् १८७० ई० में शिक्षा अधिनियम बना और दूसरी यह कि सन् १८७८ ई० में ब्रैडलॉ पर गर्भाधान रोकने (नव माल्थसवाद) का प्रचार करने के आरोप में अभियोग चलाया गया। आप देखेंगे कि उस समय से जन्म-दर घटना प्रारम्भ हुआ। पहले धीरे-धीरे और उसके बाद बड़ी तीव्रगति से। इसके लिए प्रेरणा मिली शिक्षा अधिनियम से, क्योंकि अब बच्चों से लाभ नहीं उठाया जा सकता था; और साधन ब्रैडलॉ ने दे दिए। सन् १९११-१५ ई० तक के पांच वर्षों में जन्म-दर घटकर २३ ६ रह गया था। सन् १९२९ ई० के पहले तीन महीनों में जन्म-दर १६.५ ही रह गया। चिकित्सा और आरोग्य विद्या में प्रगति के कारण इंगलैण्ड की जनसंख्या यद्यपि बढ़ रही है परन्तु यह धीरे-धीरे स्थिरता की ओर जा रही है।[1] फ्रांस में तो, जैसा कि सभी जानते हैं, बहुत समय से जनसंख्या बिल्कुल स्थिर रही है।

जन्म-दर में कमी बड़ी तीव्रगति से और पश्चिमी योरुप के लगभग सभी देशों में हुई है। पुर्तगाल जैसे पिछड़े हुए देश ही अपवाद स्वरूप रहे हैं। ग्रामीण समुदायों की अपेक्षा नागरिक समुदायों में यह कमी विशेषरूप से दिखाई पड़ी है। सबसे पहले तो धनाढ्य वर्ग में जन्म-दर कम होना प्रारम्भ हुआ। परन्तु धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति नगरों और औद्योगिक क्षेत्रों के सभी वर्गों में फैल गई है। धनाढ्य वर्गों की अपेक्षा निर्धन लोगों में जन्म-दर अभी तक अधिक है, परन्तु दस साल पहले

---

१. १९२९ के पहले तीन महीनों में जनसंख्या में कमी हुई परन्तु इसका कारण इन्फ्लुएंजा की महामारी को ही कहा जा सकता है। देखिए टाइम्स, २७ मई, सन १९२९ ई०।

सबसे अधिक धनी जनता में जितना जन्म-दर था, उसकी तुलना में लंदन के निर्धनतम क्षेत्रों में अब यह दर कम है। जैसा कि सभी जानते हैं, (यद्यपि कुछ लोग इसे स्वीकार नहीं करेंगे) यह कमी गर्भरोधकों के प्रयोग और गर्भ गिराने की प्रवृत्ति के कारण हुई है। यह सोचने का कोई कारण नहीं है कि यह कमी उसी अवस्थान तक जारी रहेगी जब कि इसके कारण जनसंख्या स्थिर हो जाती है। सम्भव है कि यह तब तक जारी रहे जब कि जनसंख्या कम होनी प्रारम्भ हो जाये और अन्त में इसका परिणाम यह हो कि अधिकतर सभ्य जातियां समाप्तप्राय हो जायें।

इस समस्या पर लाभकारी ढंग से विचार करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि हम चाहते क्या हैं। आर्थिक प्रविधि की किसी भी अवस्था में, वह कसौटी अवश्य होती है जिसे कार सांडर्स ने जनसंख्या का अनुकूलतम घनत्व कहा है, अर्थात् वह घनत्व जिससे प्रति व्यक्ति अधिकाधिक आय हो सकती हो। यदि जनसंख्या इस स्तर से कम हो जाये या अधिक हो जाये तो आर्थिक कल्याण का सामान्य स्तर घट जाता है। स्थूल रूप से देखा जाये तो आर्थिक प्रविधि की प्रत्येक प्रगति जनसंख्या के अनुकूलतम घनत्व को बढ़ा देती है। जिस अवस्थान में मानव शिकार करके अपना पेट पालता था, उसमें एक व्यक्ति प्रति वर्ग मील का घनत्व उपयुक्त है; परन्तु किसी विकसित औद्योगिक देश में जनसंख्या का घनत्व कई सौ प्रति वर्ग मील हो, तो उसे अधिक नहीं कहा जा सकता। यह कहा जाता है कि युद्ध के बाद से इंगलैण्ड में जनसंख्या अति घनी है। फ्रांस के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती और अमेरिका के बारे में तो बिल्कुल भी नहीं। परन्तु यह आशा नहीं की जा सकती कि फ्रांस, बल्कि पश्चिमी योरुप के किसी भीदेश में, जनसंख्या के बढ़ जाने से औसत धन में कोई वृद्धि होगी। इस दशा में, आर्थिक दृष्टिकोण से हमारे पास इस इच्छा का कोई कारण नहीं है कि जनसंख्या बढ़ जाये। जो लोग यह इच्छा करते हैं वे राष्ट्रवादी सैनिकवाद से प्रेरित होकर करते हैं और जनसंख्या में जो वृद्धि वे चाहते हैं वह स्थायी नहीं होगी क्योंकि, ज्यों ही वह युद्ध होगा—जिसका कामना ऐसे लोगों को है—यह वृद्धि समाप्त हो जायेगी। इसलिए, वास्तव में, इन लोगों का कहना यह है कि गर्भरोधकों के प्रयोग के स्थान पर रणक्षेत्र में मृत्यु द्वारा जनसंख्या को

कम रखना अधिक अच्छा है। किसी भी ऐसे व्यक्ति का यह दृष्टिकोण नहीं हो सकता जिसने कि इस प्रश्न पर विचार किया हो और जिन लोगों के ऐसे विचार हैं, उसका भी केवल यही कारण है कि वे ठीक प्रकार सोच-विचार नहीं सकते। युद्ध से सम्बन्धित दलीलों को तो छोड़ दीजिए हमारे लिए यह बात बड़ी प्रसन्नता की है कि सन्तति निरोध के उपायों के ज्ञान के कारण सभ्य देशों की जनसंख्या स्थिर होती जा रही है।

परन्तु यदि जनसंख्या वास्तव में घटने लगे तो समस्या दूसरी ही होगी क्योंकि यदि ह्रास विना रुकावट के निरन्तर होता रहे तो इसका मतलब यह है कि अन्त में मानव जाति समाप्त हो जायेगी और हमारी यह इच्छा तो कदापि नहीं हो सकती कि संसार की सब से अधिक सभ्य जातियां समाप्त हो जायें। इसलिए गर्भरोधकों के प्रयोग को तभी अच्छा समझा जा सकता है जबकि उसे ऐसी सीमा में रखा जाये कि जनसंख्या का प्रस्तुत स्तर बना रहे। मैं समझता हूँ कि इसमें कोई कठिनाई नहीं। परिवार को सीमित रखने की प्रेरणाएं, पूरी तरह नहीं तो मुख्य रूप से, आर्थिक होती हैं और बच्चों का ख़र्च घटा कर या यदि आवश्यक हो तो उन्हें अपने मां-बाप के लिए आय के वास्तविक स्रोत बना कर जन्म-दर को बढ़ाया जा सकता है। परन्तु आज के राष्ट्रवादी प्रवृत्ति वाले संसार में, इस प्रकार का कोई भी उपाय जोखिमपूर्ण होगा क्योंकि इसका प्रयोग सैनिक बाहुल्य प्राप्त करने के लिए किया जायेगा। हम यह कल्पना कर सकते हैं कि सभी प्रमुख राष्ट्र एक दूसरे से अधिक हथियार रखने की चेष्टा के साथ-साथ अपनी-अपनी जनसंख्या बढ़ाने के लिए भी स्पर्धा करने लगेंगे और उनका नारा होगा "गोली ठंडी करने के लिए आदमी लाओ।" इस संदर्भ में भी, सभ्य मानव को जीवित रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सरकार का होना अत्यावश्यक हो जाता है। ऐसी सरकार, दुनिया में शान्ति बनाए रखने में तभी प्रभावी रूप से सफल हो सकती है जब कि वह ऐसे आदेश दे जिनका उद्देश्य उस दर को सीमित रखना हो जिस पर कि कोई सैनिक राष्ट्र अपनी जनसंख्या बढ़ा सकता है। इस समस्या की गम्भीरता का एक दृष्टान्त जापान और आस्ट्रेलिया का परस्पर वैमनस्य है। जापान की जनसंख्या बड़ी तेज़ी से बढ़ती है और आस्ट्रे-

लिया की बहुत धीरे-धीरे। (बाहर से आकर लोग वहां बसने लगे हैं, यह बात दूसरी है।) इस कारण ऐसा वैमनस्य उत्पन्न हो गया है जिसे निबटाना बहुत कठिन है क्योंकि दोनों पक्ष इस झगड़े में न्याय्य सिद्धान्तों की दुहाई दे सकते हैं। मैं समझता हूँ कि हम यह कल्पना कर सकते हैं कि कुछ ही समय बाद सारे पश्चिमी योरुप और अमेरिका में जन्म-दर इतता कम रह जायेगा कि जनसंख्या में वृद्धि नहीं होगी। हां, यह बात दूसरी है कि सरकारें जन्म दर बढ़ाने के उद्देश्य से कुछ निश्चित कदम उठाएं। परन्तु यह आशा नहीं की जा सकती कि अधिकतर शक्तिशाली सैनिक राष्ट्र चुप बैठे रहेंगे और दूसरे राष्ट्रों को केवल जनसंख्या बढ़ा कर शक्ति के संतुलन को विपरीत दिशा में परिवर्तित करते हुए देखते रहेंगे। इसलिए किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता को अपना काम ठीक से करने के लिए जनसंख्या की समस्या को ध्यान में रखना पड़ेगा और प्रत्येक अवज्ञाकारी राष्ट्र में सन्तति निरोध के प्रचार पर बल देना पड़ेगा। जब तक यह नहीं किया जाता, संसार की शान्ति सुरक्षित नहीं रह सकती।

तो जनसंख्या के प्रश्न के दो पहलू हैं। हमें इस बात से सावधान रहना है कि जनसंख्या में तेज़ी से वृद्धि न हो, परन्तु साथ ही यह भी देखना है कि कहीं यह घट न जाये। पहला खतरा तो पुराना है और पुर्तगाल, रूस, स्पेन और जापान जैसे देशों में अभी तक है। दूसरा खतरा नया है और अभी तक केवल पश्चिमी योरुप में ही है। यदि अमेरिका केवल प्रजनन पर ही निर्भर होता तो वहां भी यही खतरा होता। परन्तु अब तक अमेरिका में बाहर से आकर इतने लोग बसे हैं कि इस बात के होते हुए भी कि अमेरिका में रहने वालों में जन्म-दर बहुत कम है, उसकी जनसंख्या में कम से कम उतनी तेजी से वृद्धि अवश्य हुई है, जितनी कि वांछनीय है। जनसंख्या के घट जाने का नया खतरा ऐसा है कि हम पूर्वजों से प्राप्त अपने चिन्तन-स्वभाव को उसके अनुकूल नहीं बना पाए हैं। अब तक इसका सामना करने के लिए नैतिकतावादियों ने या तो उपदेश दिए हैं, और या, सन्तति निरोध के प्रचार के विरुद्ध कानून पास किए गए हैं। आंकड़ों से पता चलता है कि इस प्रकार के उपाय प्रभावी नहीं हैं। गर्भरोधकों का प्रयोग सभी सभ्य राष्ट्रों के सामान्य व्यवहार का अंग बन चुका है और अब इसे मिटाया

नहीं जा सकता। यौन सम्बन्धो में वास्तविकता से आंखें चुराने की आदत सरकारों और प्रमुख व्यक्तियों में इतनी रूढ़ हो चुकी है कि इसके अचानक समाप्त होने की आशा नहीं का जा सकती। परन्तु यह आदत बहुत अवांछनीय है और मैं समझता हूँ कि हम यह आशा कर सकते हैं कि जो आजकल छोटे हैं, वे बड़े होकर महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त करेंगे तो वे इस सम्बन्ध में अपने पिताओं और दादों की तुलना में अधिक अच्छे होंगे। हम यह आशा कर सकते हैं कि वे इस बात को समझ सकेंगे कि गर्भरोधकों का प्रयोग अनिवार्य है और यह भी अनुभव करेंगे कि वे तभी तक वांछनीय है, जब तक कि उनके कारण जनसंख्या का वास्तविक ह्रास प्रारम्भ नहीं हो जाता। जिस राष्ट्र में जनसंख्या के वास्तविक ह्रास का खतरा हो, उसके लिए उचित उपाय स्पष्टतया यही है कि प्रयोग के रूप में बच्चों का आर्थिक बोझ उस समय तक कम कर दिया जाये जब तक कि जन्म-दर जनसंख्या को बनाए रखने के लिए समुचित न हो जाये।

इस सम्बन्ध में, हमारे आज की नैतिक संहिता के एक पहलू में परिवर्तन कर दिया जाये तो उससे लाभ हो सकता है। इंगलैण्ड में स्त्रियों की संख्या पुरुषों की तुलना में बीस लाख अधिक है; और कानून तथा प्रथा अनुसार इन्हें मां बनने का अवसर प्राप्त नहीं होता। इनमें से अधिकतर स्त्रियों के लिए यह बहुत बड़ा अभाव है। यदि प्रथा ऐसी हो कि समाज अविवाहित मां को स्वीकार कर ले और उसकी आर्थिक स्थिति समुचित बना दी जाये तो इसमें सन्देह नहीं कि बहुत-सी स्त्रियां, जिन्हें आजकल ब्रह्मचारिणी रहना पड़ता है, मां बन सकेंगी। एक विवाह प्रणाली इस धारणा पर आधारित है कि स्त्रियों और पुरुषों की संख्या लगभग बराबर होगी। जहाँ यह संख्या बराबर नहीं होती, वहां उन लोगों के प्रति तो बड़ा अन्याय ही होता है, जिन्हें इस गणित के कारण अविवाहित रहना पड़ता है। और जहां जन्म-दर में वृद्धि वांछनीय हो, वहां यह अन्याय सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत दोनों दृष्टिकोणों से अवांछनीय है।

ज्यों-ज्यों ज्ञान में वृद्धि होती है, सरकार के निश्चित कार्य द्वारा, उन शक्तियों पर नियंत्रण रखना अधिकाधिक सम्भव होता जा रहा है जो पहले प्रकृति की शक्तियां मालूम होती थीं। जनसंख्या की वृद्धि भी इन्हीं में से है।

ईसाई धर्म के उदय के बाद से इसे सहजवृत्ति के अंधाधुंध प्रवर्त्तक की दया पर छोड़ दिया गया है। परन्तु वह समय बड़ी तेज़ी से आ रहा है जब कि इस पर जानते-बूझते अंकुश लगाना होगा। परन्तु हम यह देख चुके हैं कि बच्चों पर राज्य के नियंत्रण की तरह, इस सम्बन्ध में भी, राज्य का हस्तक्षेप तभी लाभदायक हो सकता है जबकि वह राज्य अन्तर्राष्ट्रीय हो, न कि आज के राज्यों जैसा जोकि अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाने की स्पर्धा में लगे हुए हैं।

सुजनन शास्त्र

नस्ल का जीवशास्त्रीय स्वरूप सुधारने के लिए, निश्चित उपायों द्वारा जो चेष्टा की जाती है, उसे यूजेनिक्स (सुजनन शास्त्र) कहते हैं। यह जिन विचारों पर आधारित है, वे डार्विन के ही थे, और, यह उचित ही है कि यूजेनिक्स (सुजनन-शास्त्र) सोसइटी के प्रधान चार्ल्स डार्विन के एक पुत्र ही हैं। परन्तु सुजनन शास्त्र सम्वन्धी विचारों का निकटतम प्रतिपादक फ्रांसिस गॅल्टन हुआ है, जिसने मानवीय निष्पत्ति में आनुवंशिक तत्व पर बहुत वल दिया है। आज के युग में, विशेषकर अमेरिका में, आनुवंशिकता दलगत प्रश्न वन गयी है। अमेरिका के के रूढ़िवादियों का विचार है कि वय प्राप्त व्यक्ति का चरित्र मुख्यतया जन्मजात विशेषाओं के अनुसार वनता है, और इसके विपरीत अमेरिका के उग्रवादियों का विचार है कि जो भी प्रभाव है, वह शिक्षा का ही है, आनुवंशिकता का कुछ भी नहीं। मैं इन दोनों में से किसी भी बात से सहमत नहीं हूँ, दोनों दो चरम सीमाओं पर हैं और न मैं इस उपमेय को ही मानता हूँ जिसें इन दोनों वातों में से किसी एक पर विश्वास करने वाले मानते हैं और जिसके कारण उनके परस्पर विरोधी पूर्वाग्रह जन्म लेते हैं, उनके कू कलक्स कलान, नामक संस्था के अनुसार अमेरिका में उत्पन्न हुए सदस्य इटालिवियों, दक्षिणी स्लावों और ऐसे ही अन्य लोगों की तुलना में अधिक अच्छे हैं। मानव की मानसिक क्षमता में आनुवंशिककता का कितना हाथ है और शिक्षा का कितना, इसका निर्णय करने के लिए अभी तक आवश्यक सामग्री प्राप्त नहीं हुई है। इस बात का वैज्ञानिक ढंग से निर्णय करने के लिए यह आवश्यक होगा कि एक जैसे हजारों जुड़वां वच्चों को जन्म लेते ही अलग कर दिया जाये और उन्हें यथासम्भव भिन्न-भिन्न ढंग से

शिक्षा दी जाये। परन्तु आजकल यह प्रयोग सम्भव नहीं है। मेरा विचार तो यह है—मैं मानता हूँ कि यह वैज्ञानिक नहीं और केवल धारणाओं पर आधारित है—कि बुरी शिक्षा के कारण किसी का भी नाश हो सकता है और सच तो यह है कि लगभग प्रत्येक व्यक्ति का हो जाता है, परन्तु विभिन्न दिशाओं में अत्यधिक श्रेष्ठता वही लोग प्राप्त करते हैं जिनमें जन्म से ही कुछ विशेष रुझान होते हैं। मैं समझता हूँ कि किसी सामान्य लड़के को चाहे कितनी ही अच्छी शिक्षा क्यों न दी जाये, वह प्रथम श्रेणी का पियानो बजाने वाला नहीं बन सकता। दुनिया का अच्छे से अच्छा स्कूल हम सभी को आइन्स्टाइन नहीं बना सकता। मैं इस बात को नहीं मानता कि निपोलियन में ब्रियेन में अपने स्कूल के अन्य छात्रों की अपेक्षा अधिक जन्मजात योग्यता नहीं थी और यह कि उसने समर-कौशल अपनी मां को अपने उदंड पुत्रों को अनुशासन में रखते देखकर सीखा थी। मुझे विश्वास है कि ऐसे मामलों में—और किसी अंश तक सभी योग्य व्यक्तियों की दशा में—एक जन्मजात रुझान होता है जिसके कारण शिक्षा, सामान्य व्यक्तियों की तुलना में, उन्हें और अच्छा बना देती है। बल्कि कुछ स्पष्ट तथ्य हैं जिनसे इस निष्कर्ष की ओर इंगित होता है, जैसे कि किसी व्यक्ति के सिर का आकार देखकर बताया जा सकता है कि वह चतुर है या मूर्ख और यह विशेषता ऐसी नहीं है जो कि शिक्षा के कारण प्राप्त होती हो। और फिर, इसके विपरीत, बौड़म, क्षीणबुद्धि और दुर्बल बुद्धि लोगों को देखिए। सुजनन शास्त्र का कोई कट्टर से कट्टर विरोधी भी इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि बौड़मपन, अधिकांश मामलों में तो, जन्मजात ही होता है और जो व्यक्ति आंकड़ों की अनुरूपता समझता है, वह इस बात से यह समझ सकता है कि इसी प्रकार ऐसे लोग भी होते हैं जिनमें असाधारण मानसिक क्षमता होती है। इसलिए मैं और तर्क किए बिना यह मान लूंगा कि जन्मजात मानसिक क्षमता भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में विभिन्न होती हैं। मैं यह भी मान लेता हूँ—और यह सम्भवतः अधिक शंकापूर्ण बात है—कि चतुर व्यक्ति मूर्खों की अपेक्षा अधिक अच्छे होते हैं। इन दो बातों के मान लिए जाने पर सुजननवादियों के तर्क की नींव स्थापित हो जाती है। इसलिए हमें इस सारे तर्क को महत्वहीन नहीं समझना चाहिए

चाहे हम इसके समर्थकों के ब्यौरे की कुछ बातों के सम्बन्ध में कुछ ही क्यों न सोचते रहें ।

सुजनन के विषय पर बहुत असाधारण मात्रा में निरर्थक बातें लिखी गयी हैं। इसके बहुत से समर्थक इसकी ठोस जीवशास्त्रीय नींव के साथ कुछ ऐसे समाजशास्त्रीय साध्यों को जोड़ देते हैं जो कम असंदिग्ध हैं। वे हैं: कि सदाचार आय के अनुपात में होता है, कि निर्धनता यदि वशंगत है (खेद है कि यह बहुत साधारण बात है!) तो उसका तत्व जीशास्त्रीय है न कि विधिगत; और यह कि यदि हम निर्धनों के स्थान पर धनी व्यक्तियों को अधिक सन्तान उत्पन्न करने के लिए तैयार कर सकें, तो सभी धनी हो जायेंगे। इस बात की बहुत चर्चा की जाती है कि धनी वर्ग की तुलना में निर्धन वर्ग में अधिक सन्तान उत्पन्न होती है। मैं अपने आप को यह मानने के लिए तैयार नहीं कर सकता कि यह बात खेदजनक है क्योंकि मुझे इस बात का कोई साक्ष्य दिखाई नहीं देता कि धनी व्यक्ति किसी बात में निर्धनों की अपेक्षा अच्छे हैं। यदि यह खेदजनक हो तो भी चिन्ता की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वास्तव में कुछ ही वर्ष का अन्तर है। निर्धनों में जन्म-दर घटता जा रहा है और अब यह उतना ही कम है जितना कि नौ वर्ष पहले धनी वर्ग में था।[1] यह सच है कि कुछ ऐसे तत्व हैं जिनके कारण अवांछनीय ढंग का भेदकारी जन्म-दर होता जा रहा है। उदाहरण के लिए, जब सरकार और पुलिस अधिकारी सन्तति निरोध सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करने में कठिनाइयां उत्पन्न करते हैं, तो परिणाम यह होता है कि जिन लोगों की प्रज्ञा विशेष स्तर से नीचे होती है, वे इस जानकारी को प्राप्त नहीं कर सकते; लेकिन दूसरे लोगों के सन्बन्ध में अधिकारियों के प्रयत्न असफल रहते हैं। परिणाम यह होता है कि गर्भरोधकों सम्बन्धी ज्ञान के प्रसार के विरोध के कारण प्रज्ञाशील व्यक्तियों की अपेक्षा मूर्ख लोगों की सन्तान अधिक होती हैं। परन्तु यह बात सम्भाव्य लगती है कि यह तत्व तो अस्थायी है क्योंकि थोड़े ही समय में मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति या तो

---

१. देखिए जूलियस वुल्फ़ की पुस्तक 'डी न्यू सेक्सुअल मॉरेल अण्ड डास गेवर्टेनप्राब्लम अनसेरेर टाग', १९२८, पृष्ठ १६५-६७।

सन्तति निरोध के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर लेंगे और या—मैं समझता हूँ कि अधिकारियों की लोगों को अज्ञान के अन्धकार में रखने की प्रवृत्ति का परिणाम सामान्यतया यही होता है कि—वे ऐसे लोगों को ढूंढ़ निकालेंगे जो कि गर्भ गिराने को तैयार होंगे।[2]

सुजनन शास्त्र भी दो प्रकार का है। सकारात्मक और नकारात्मक। सकारात्मक सुजनन का सम्बन्ध अच्छी नस्लों को प्रोत्साहन देने से है और नकारात्मक का बुरी नस्लों को निरुत्साहित करने से। आजकल नकारात्मक पहलू अधिक व्यावहारिक है बल्कि अमेरिका के कुछ राज्यों में इस सम्बन्ध में बहुत प्रगति हुई है और इंगलैण्ड में भी अयोग्य व्यक्तियों का वंध्याकरण व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र में आ चुका है और सम्भव है जल्दी ही प्रारम्भ हो जाये। इस प्रकार की कार्यवाही के प्रति जो आपत्ति स्वाभाविक मालूम पड़ती है, मेरे विचार में उसे उचित नहीं कहा जा सकता। सभी जानते हैं कि मन्दबुद्धि स्त्रियों के बहुत से जारज बच्चे होने की सम्भावना रहती है और साधारणतया वे सभी समाज के लिए किसी काम के नहीं होते। यदि इन स्त्रियों को वंध्या बना दिया जाये तो ये स्वयं बड़ी सुखी होंगी क्योंकि यदि वे गर्भिणी हो जाती हैं तो संतति-कामना के मनोवेग के कारण नहीं। यही बात मंद बुद्धि पुरुषों पर भी लागू होती है। यह ठीक है कि इस प्रणाली में बहुत से जोखिम हैं, क्योंकि सम्भव है कि अधिकारीगण किसी असाधारण विचार को या अपने प्रति विरोध को मन्द बुद्धि का चिन्ह मान बैठें। परन्तु ये जोखिम सम्भवतः ऐसे हैं कि इन्हें उठाया जाना चाहिए क्योंकि यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के उपायों द्वारा बौड़म, दुर्बलबुद्धि और मन्दबुद्धि लोगों की संख्या बहुत-कुछ घटाई जा सकती है।

---

२. जूलियस वुल्फ़ (देखिए वही पुस्तक, पृष्ठ ६) का कहना है कि जर्मनी में जन्म-दर में कमी गर्भरोधकों की बजाय गर्भ गिराने का कारण अधिक हुई है। उसने अनुमान लगाया है कि आजकल जर्मनी में ६ लाख कत्रिम गर्भस्राव होते हैं। ब्रिटन के सम्बन्ध में गर्भपात का अनुमान लगाना अधिक कठिन है क्योंकि गर्भपात का हिसाब-किताब नहीं रखा जाता; परन्तु यह सोचने का पर्याप्त कारण है कि यहां भी परिस्थिति जर्मनी से अधिक भिन्न नहीं है।

मेरा विचार है कि वंध्याकरण निश्चित रूप से उन्हीं व्यक्तियों तक सीमित रखना चाहिए जिनमें मानसिक विकार हों। मैं अमेरिका के राज्य इडाहो में प्रचलित कानून जैसे किसी कानून का पक्ष नहीं ले सकता, जिसके अनुसार "मानसिक विकारों से ग्रस्त व्यक्तियों, मिरगी के रोगियों स्वभावत: अपराधियों, नैतिक दृष्टि से पतित लोगों, और काम-विकृति ग्रस्त व्यक्तियों" के वंध्याकारण की अनुमति है। उपरोक्त श्रेणियों में अंतिम दो बड़ी स्पष्ट रूप से बताई गयी हैं और विभिन्न समुदायों में इनका निर्धारण विभिन्न ढंग से किया जायेगा। इडाहो के इस कानून के अनुसार तो सुकरात, प्लेटो, जूलियस सीज़र और सेन्ट पॉल तक को वंध्य बनाया जा सकता था। इसके अतिरिक्त सम्भव है कि स्वभावत: अपराधी व्यक्ति किसी क्रियागत स्नायुविक विकार से पीड़ित हो जिसका उपचार, कम से कम सिद्धान्त रूप में, मनोविश्लेषण द्वारा किया जा सकता है और जो सम्भवत: उसे आनुवंशिक न हो। इंगलैण्ड और अमेरिका दोनों में इन विषयों के सम्बन्ध में कानून बनाने वालों को मनोविश्लेषण विशेषज्ञों द्वारा किये जाने वाले काम का ज्ञान नहीं होता और इसलिए वे बिल्कुल भिन्न प्रकार के विकारों को केवल इस आधार पर एक ही श्रेणी में रख देते हैं कि उनके लक्षण थोड़े-बहुत एक-से होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वह अपने युग के उत्कृष्ट उपलब्ध ज्ञान से तीस वर्ष पीछे हैं। इससे यह तथ्य स्पष्ट होता है कि ऐसे सभी मामलों में तब तक कोई कानून बनाना जोखिमपूर्ण है जब तक कि विज्ञान ऐसे स्थिर निष्कर्षों पर नहीं पहुँच जाता जिन्हें कम से कम कई दशाब्दों तक चुनौती न दी जा सकी हो, क्योंकि यदि ऐसा नहीं होगा तो गलत विचार कानून में निहित हो जायेंगे। इसलिए वे गलत विचार मैजिस्ट्रेटों को अच्छे लगने लगेंगे, जिसका परिणाम यह होता है कि अधिक अच्छे विचारों को कार्यरूप में परिणत करने में बाधा पड़ती है। मैं समझता हूँ कि इस क्षेत्र में मानसिक हीनता ही एक मात्र वस्तु है, जो इतनी निश्चित है कि उसके आधार पर कानून बनाने में कोई खतरा नहीं हैं। इसका निर्णय निरपेक्ष ढंग से किया जा सकता है और इसके बारे में अधिकारियों का मतभेद नहीं होगा। परन्तु नैतिक पतन तो अपनी-अपनी राय की बात है। जिस व्यक्ति को एक आदमी नैतिक रूप से पतित समझता है, सम्भव है कि दूसरा उसे देव-

दूत माने। मैं यह नहीं कहता कि भविष्य में कभी इस क्षेत्र में कानून का अधिक प्रसार न हो—मैं तो केवल यह कहता हूँ कि अभी हमारा वैज्ञानिक ज्ञान इस उद्देश्य के लिए पर्याप्त नहीं है और यह कि जब कोई समुदाय अपनी नैतिक भर्त्सना को विज्ञान का वह रूप धारण करने देता है, जैसा कि अमेरिका के विभिन्न राज्यों में निस्सन्देह हुआ है, तो बड़ा खतरा हो उत्पन्न जाता है।

अब मैं सकारात्मक सुजनन पर आता हूँ, जिसमें कई रोचक सम्भावनाएं हैं, यह बात दूसरी है कि वे भविष्य में ही फलीभूत हो सकती हैं। सकारात्मक सुजनन का अर्थ यह है कि वांछनीय माता-पिता को अधिक बच्चे पैदा करने के लिए प्रोत्साहन दिया जाये। आजकल, सामान्यतया इसके बिल्कुल विपरीत बात होती है। उदाहरण के लिए, प्रारम्भिक स्कूल में कोई बच्चा असाधारण रूप से कुशाग्रबुद्धि हो तो वह वृतिजीवी वर्गों में बहुत ऊंचा उठ जाता है और सम्भवत: इसी कारण पैंतीस या चालीस वर्ष की आयु में विवाह करता है; जबकि उसके साथ के बच्चे जो असाधारण रूप से चतुर नहीं होते वे पच्चीस वर्ष की आयु में ही विवाह कर लेते हैं। वृत्तिजीवी वर्गों में शिक्षा का खर्च बहुत बड़ा बोझ होता है और इस कारण उन्हें अपने बच्चों की संख्या बहुत सीमित रखने पर विवश होना पड़ता है। सम्भवत:, उनका बौद्धिक औसत अधिकतर अन्य वर्गों की अपेक्षा ज़्यादा होता है और इसलिए उनके बच्चों की संख्या का सीमित होना खेद-जनक है। उनके बारे में सरलतम उपाय यही है कि उनके बच्चों को विश्व-विद्यालय तक मुफ़्त शिक्षा दी जाये। इसका अर्थ यह हुआ कि, मोटे तौर पर छात्रवृत्तियां बच्चों के गुणों के आधार पर नहीं वरन् उनके माता-पिता की योग्यता के आधार पर दी जानी चाहियें। इसका एक आनुषंगिक लाभ यह भी होगा कि रट्टा लगाने और अत्यधिक पढ़ाई की आवश्यकता नहीं रहेगी, जिसके कारण अत्यधिक बोझ पड़ता है और छात्र २१ वर्ष की आयु प्राप्त करने तक बौद्धिक और शारीरिक हानि के शिकार हो चुकते हैं। परन्तु, इंगलैण्ड और अमेरिका में तो राज्य के लिए ऐसी कोई कार्यवाही करना सम्भवत: असम्भव होगा, जिससे वृत्तिजीवी लोगों को अधिक सन्तान उत्पन्न करने के लिए तैयार किया जा सके। इसके रास्ते में यदि कोई रुकावट है तो लोकतन्त्र की है।

सुजनन के विचार इस धारणा पर आधारित हैं कि व्यक्ति बराबर नहीं होते और लोकतन्त्रवाद इस धारणा पर आधारित है कि वे बराबर होते हैं। इसलिए किसी लोकतन्त्रवादी समुदाय में सुजनन शास्त्र सम्बन्धी विचारों को लागू करना राजनीति के दृष्टिकोण से बड़ा कठिन है क्योंकि उन विचारों से यह प्रकट नहीं होता कि मन्दबुद्धि लोगों जैसे घटिया लोग अल्पसंख्या में हैं, बल्कि यह होता है कि श्रेष्ठ लोगों की अल्पसंख्या है। इनमें से पहली बात बहुसंख्या के लिए सुखदायक है और दूसरी दुःखदायक। इसलिए पहली बात जिस कानून में निहित हो उसे बहुसंख्या का समर्थन प्राप्त होगा परन्तु जिस कानून में दूसरी बात निहित हो, उसे यह समर्थन प्राप्त नहीं हो सकता।

जो भी हो, जिस व्यक्ति ने भी इस विषय पर ध्यान दिया है, उसे पता है कि यद्यपि आजकल यह निश्चित करना कठिन है कि अच्छी नस्ल किन बातों से बनती है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस सम्बन्ध में कुछ भेद हैं जिनके सम्बन्ध में आशा है कि विज्ञान की सहायता से जल्दी ही उन्हें मापा जा सकेगा। तनिक कल्पना कीजिये कि किसी किसान से कहा जाय कि सारे बछड़ों को प्रजनन का बराबर-बराबर अवसर दिया जाये तो वह क्या सोचेगा। सच तो यह है कि जिस सांड को अगली नस्ल बनाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है, उसे इस आधार पर चुना जाता है कि उसकी मां और मां की मां कितना दूध देती थी। (यहां प्रसंगवश यह भी कह दें कि क्योंकि गौ-जाति में विज्ञान, कला और युद्ध का ज्ञान नहीं, इसलिए प्रमुख महत्व गाय का ही है और सांड में यदि कोई महत्व है तो यह कि वह गाय के गुण अगली नस्ल तक पहुँचाता है।) वैज्ञानिक ढंग के प्रजनन द्वारा सभी पालतू पशुओं की नस्ल सुधर गयी है और यह बात भी विवाद रहित है कि मानवों की नस्ल को भी, इसी प्रकार के उपायों द्वारा किसी भी वांछनीय दिशा में बदला जा सकता है। हां, यह निश्चय करना निस्सन्देह बहुत अधिक कठिन है कि हम मानवों में क्या चाहते हैं। सम्भव है कि हम मानवों का प्रजनन शारीरिक शक्ति के दृष्टिकोण से करें तो उनका बौद्धिक स्तर गिर जाये। यह भी सम्भव है कि प्रजनन मानसिक क्षमता के दृष्टिकोण से किया जाये तो नस्ल दुर्बल हो और विभिन्न रोगों का शिकार

हो जाये। यह भी हो सकता है कि हम भावात्मक सन्तुलन लाना चाहें तो कला नष्ट हो जाये । इन सभी विषयों पर आवश्यक ज्ञान का अभाव है । इसलिए आजकल सकारात्मक सुजनन के लिए बहुत अधिक उपाय करना वांछनीय नहीं होगा । परन्तु यह हो सकता है कि अगले सौ वर्षों में आनुवंशिकता और जीव-रसायनशास्त्र सम्बन्धी विज्ञान इतनी उन्नति कर लें कि ऐसी नस्ल का प्रजनन सम्भव हो जाये जिसे वर्तमान नस्ल की तुलना में सभी श्रेष्ठ मानेंगे ।

परन्तु इस प्रकार के वैज्ञानिक ज्ञान को लागू करने के लिए परिवार प्रणाली में उससे कहीं अधिक क्रान्तिकारी उथल-पुथल आवश्यक होगी, जिसकी चर्चा अब तक इस पुस्तक में की जा चुकी है। वैज्ञानिक प्रजनन को सर्वांगीण रूप से लागू करने के लिए यह आवश्यक होगा कि प्रत्येक पीढ़ी में दो या तीन प्रतिशत पुरुषों को और कोई पच्चीस प्रतिशत स्त्रियों को सन्तानोत्पत्ति के लिए चुन लिया जाये । सम्भवतः इसके लिए तारुण्य में, प्रत्येक व्यक्ति का परीक्षण किया जायेगा और जो उसमें असफल होंगे उनका वंध्याकरण कर दिया जायेगा । पिता का अपनी सन्तान के साथ उतना ही सम्बन्ध होगा जितना कि आजकल सांडों या घोड़ों का होता है और मां का कर्म एक विशिष्ट वृत्ति बन जायेगा ; और वह अपने जीवन-यापन के ढंग आधार पर अन्य स्त्रियों से भिन्न होंगी । मैं यह नहीं कहता कि यह स्थिति अवश्य आयेगी और मैं चाहता भी नहीं कि यह आए, क्योंकि मैं समझता हूँ कि यह बड़ी बुरी बात होगी। परन्तु फिर भी, आप निर-पेक्ष होकर सोचें तो पता चलेगा कि इस प्रकार की योजना के परिणाम महत्व-पूर्ण हो सकते हैं । तर्क के लिए यह मान लीजिए कि जापान में इस पद्धति को अपनाया जाता है और यह भी मान लीजिए कि तीन पीढ़ियों के बाद अधिकतर जापानी पुरुष एडिसन जैसे चतुर और घूँसेबाजी की प्रतियोगिताओं में हिस्सा लेने वालों जैसे हृष्ट-पुष्ट होंगे । यदि इसी बीच, दूसरे राष्ट्र सारी बात प्रकृति पर छोड़कर बैठ रहें तो वे युद्ध में जापानियों के आगे नहीं ठहर सकेंगे । इसमें सन्देह नहीं कि जापानी, योग्यता के इस शिखर पर पहुँच कर, कुछ अन्य राष्ट्रों के पुरुषों को सैनिकों के रूप में भरती करने का उपाय खोज निकालेंगे और अपनी वैज्ञानिक प्रविधि के आधार पर विजय पाने की आशा में रहेंगे और उनकी विजय

लगभग निश्चित होगी। इस प्रकार की प्रणाली में युवकों में राज्य के प्रति अंध-भक्ति की भावना भर देना बड़ा सरल काम होगा। क्या कोई यह कह सकता है कि भविष्य में इस प्रकार की बात हो जाना असम्भव है?

एक प्रकार का सुजनन शास्त्र विशेष ढंग के राजनीतिज्ञों और प्रचारकों को बहुत प्रिय है, जिसे जाति-सुजनन कहा जा सकता है। यह इस कथन में निहित है कि एक नस्ल या राष्ट्र (निस्सन्देह वही जिसका सदस्य लेखक है) अन्य सबसे श्रेष्ठ है और उसे घटिया नस्लों को हानि पहुँचा कर अपनी संख्या बढ़ाने के लिए अपनी सैनिक शक्ति का प्रयोग करना चाहिए। इसका सबसे ज्वलंत उदाहरण अमेरिका में किया जा रहा नॉर्डिक प्रचार है जिसे विधान की स्वीकृति प्राप्त हो गयी है और आप्रवास-विधियों में स्थान मिल गया है। इस प्रकार का सुजनन शास्त्र डार्विन के इस सिद्धान्त में विश्वास करने वालों को प्रिय हो सकता है कि जो जाति सबसे बलिष्ठ होगी, उसी का अस्तित्व बना रहेगा। परन्तु अद्भुत बात तो यह है कि इस प्रचार का बलपूर्वक समर्थन करने वाले वे लोग हैं जो यह कहते हैं कि डार्विन के वाद की शिक्षा देना अवैध बना दिया जाये। जातीय सुजनन से सम्बन्धित राजनीतिक प्रचार अधिकतया अवांछनीय ढंग का है; परन्तु हम इस बात को भूलकर गुण-दोषों के आधार पर ही इस पर विचार करते हैं।

इस बात में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि चरम स्थितियों में एक जाति दूसरी जाति से श्रेष्ठ होती है। उत्तरी अमेरिका, आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड में यदि अभी तक आदिवासी ही रहते होते तो वे देश संसार की सभ्यता में उतना योग न दे पाते जितना कि दे रहे हैं। सब बातों को देखते हुए यह समझना उचित ही है कि औसत हब्शी गोरे व्यक्ति की तुलना में घटिया होता है, यद्यपि गरम जलवायु वाले देशों में उसके बिना काम नहीं चल सकता और इसलिए (मानवोचित विचारों की बात न भी कीजिए तो भी) उसको समाप्त कर देना बहुत अवाँछनीय होगा। परन्तु जहां तक योरुपीय जातियों में भेदभाव की बात है, वहां तक राजनीतिक पूर्वाग्रहों के समर्थन में बहुत कुछ उलजलूल बातों को विज्ञान का जामा पहिना दिया जाता है। और न मुझे इस बात का कोई युक्ति-

युक्त आधार दिखाई पड़ता है कि हम सभी पीली जातियों को अपनी तुलना में घटिया समझें। ऐसे सभी मामलों में जातीय सुजनन, शॉविन जैसे स्वार्थपूर्ण देश प्रेम—अन्ध राष्ट्रभक्ति—का बहाना मात्र होता है।

जूलियस वूल्फ़ ने[1] अपनी पुस्तक में एक सारिणी दी है, जिसमें सभी प्रमुख देशों के सम्बन्ध में–जिनके आंकड़े हैं—बताया है कि प्रति १००० जनसंख्या के पीछे मृत्यु की अपेक्षा जन्म कितने अधिक होते हैं। फ्रांस में यह संख्या सबसे कम (१.३) है, संयुक्त राज्य अमेरिका में उससे अधिक (४.००), उसके बाद स्वीडन (५.८) फिर ब्रिटिश भारत (५.९) और फिर स्विट्ज़रलैंड (६.२) और इंगलैण्ड (६.५) आते हैं। जर्मनी में यह संख्या ७.८ है, इटली में १०.९, जापान में १४.६, रूस में १९.५ और एक्वडोर में संसार में सब से अधिक अर्थात् २३.१। चीन इस सूची में नहीं है क्योंकि चीन के सम्बन्ध में आंकड़े प्राप्त नहीं हैं। वूल्फ़ ने यह निष्कर्ष निकाला है कि पूर्व—अर्थात् रूस, चीन और जापान—इस सम्बन्ध में पश्चिम पर हावी हो जायेगा। मैं एक्वडोर के आंकड़ों पर विश्वास करके इस तर्क का खण्डन करने की चेष्टा नहीं करूंगा बल्कि मैं लन्दन में धनी और निर्धन वर्ग के जन्म-दर के सम्बन्ध में वूल्फ़ द्वारा दिए गए आंकड़ों की (जिनकी ओर पहले निर्देश किया जा चुका है) ही चर्चा करूंगा, जिनसे पता चलता है कि निर्धन व्यक्तियों में जन्म-दर उससे कम है, जितना कि कुछ वर्ष पहले धनी वर्ग में था। यही बात, चाहे देर से हो, पूर्वी जगत पर भी अवश्य लागू होगी। उन पर पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव पड़ने के कारण वहां का जन्म-दर अनिवार्य रूप से घट जायेगा। कोई भी देश औद्योगीकरण के बिना सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली नहीं बन सकता और औद्योगीकरण के साथ वह प्रवृत्ति भी आ जाती है जिसके कारण परिवार को सीमित रखा जाता है। इसलिए हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए विवश होना पड़ता है कि न केवल पूर्वी जगत का प्रभुत्व—यदि स्थापित हो भी गया—जिससे पश्चिमी जगत के शाविनवादी—अन्ध-राष्ट्र प्रेमी—(भूतपूर्व कैज़र के पदचिन्हों पर चलते हुए) डरते हैं, कोई बड़ा भारी दुर्भाग्य नहीं होगा, बल्कि यह सोचने का कोई तर्क-

१. देखिए पूर्वोलिखित पुस्तक पृष्ठ, १४३-४४।

संगत कारण भी नहीं है कि ऐसा प्रभुत्व स्थापित हो ही जायेगा। परन्तु फिर भी युद्ध चाहने वाले अन्य बातों के साथ-साथ इस हौए से भी लोगों को उस समय तक डराते रहेंगे जब तक कि कोई अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता विभिन्न राज्यों के लिए वह संख्या निर्धारित नहीं कर देती, जिस तक कि वे अपनी जनसंख्या की वृद्धि कर सकते हैं।

यहां भी, पहले दो अवसरों के समान, हमारे सामने उन खतरों का प्रश्न आता है जिनका सामना मानवता को उस दशा में करना पड़ेगा जबकि विज्ञान प्रगति करता रहे और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अराजकता बनी रहे। विज्ञान हमें अपने प्रयोजनों की पूर्ति करने योग्य बनाता है और यदि वे प्रयोजन बुरे हों तो परिणाम सर्वनाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। यदि संसार में दुर्भावना और घृणा बनी रहेगी तो विज्ञान की जितनी भी प्रगति होगी उतना ही बुरा होगा। इसलिए मानव की प्रगति के इन आवेशों की उग्रता को कम करना अत्यावश्यक है। ये आवेश बहुत कुछ तो ग़लत यौन आचारशास्त्र और यौन शिक्षा के कारण हैं। सभ्यता के भविष्य के लिए नया और अच्छा आचारशास्त्र अनिवार्य है। यही बात है जिसके कारण आज के युग में यौन नैतिकता के सुधार की आवश्यकता एक सारभूत आवश्यकता है।

व्यक्तिगत नैतिकता के दृष्टिकोण से, यदि यौन आचारशास्त्र वैज्ञानिक हो और अंधविश्वास से खाली हो तो उसमें सुजनन की धारणाओं को पहला स्थान दिया जायेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि मैथुन पर प्रस्तुत बन्धन चाहे कितने ही कम क्यों न कर दिए जायें, कर्त्तव्यपरायण स्त्री-पुरुष गम्भीरतापूर्वक यह सोचे बिना कभी सन्तान को जन्म नहीं देंगे कि वह सन्तान होगी कैसी। गर्भरोधकों के कारण सन्तान उत्पन्न करना ऐच्छिक कार्य बन गया है और मैथुन का सहज परिणाम नहीं रहा। विभिन्न आर्थिक कारणों से, जिन पर हम पहले अध्यायों में विचार कर चुके हैं, इस बात की आशा दिखाई पड़ती है कि भविष्य में बच्चों की शिक्षा और भरण-पोषण में पिता का महत्व पहले की अपेक्षा कम हो जायेगा। इसलिए इस बात का कोई युक्तिसंगत कारण नहीं रहेगा कि कोई स्त्री उसी पुरुष को अपने बच्चे का पिता चुने, जिसे वह प्रेमी

या साथी के रूप में पसन्द करती है। हो सकता है कि भविष्य में यह बात स्त्रियों के लिए बड़ी सरलता से सम्भव हो जाये कि वे अपनी सुख की बलि दिए बिना सुजनन की दृष्टि से अपने बच्चों के लिए पिताओं का चुनाव कर सकें और जहां तक साधारण यौन साहचर्य का सम्बन्ध है, अपनी व्यक्तिगत भावनाओं को खुल खेलने दें। पुरुषों के लिए तो मातृत्व की दृष्टि से वांछनीय स्त्रियों को अपने बच्चों की मां के रूप से चुनना और भी सरल होगा। जो मेरे समान इस बात में विश्वास रखते हैं कि यौन आचरण से समुदाय का सम्बन्ध केवल उसी सीमा तक होना चाहिए जहां तक मैथुन के फलस्वरूप बच्चे जन्म लेते हों, वे इस प्रमेय से भावी यौन नैतिकता के सम्बन्ध में दोहरा निष्कर्ष निकाल सकते हैं। एक ओर तो यह बात है कि यदि सन्तान की इच्छा न हो तो प्रेम पर कोई बन्धन नहीं होना चाहिए और दूसरी ओर यह कि सन्तानोत्पत्ति को, नैतिक उद्देश्यों से प्रेरित होकर आज की अपेक्षा अधिक सावधानी से विनियमित करना चाहिए। परन्तु ये उद्देश्य उनसे भिन्न होंगे जो कि आजकल माने जाते हैं। किसी विशेष दशा में सन्तान को सदाचार का परिणाम मानने के लिए यह आवश्यक नहीं रहेगा कि किसी पादरी ने कुछ शब्दों का उच्चारण किया है या किसी रजिस्ट्रार ने एक विशेष दस्तावेज़ लिखी है। यह इसलिए कि इस बात का कोई साक्ष्य नहीं है कि ऐसे कृत्यों का बच्चों के स्वास्थ्य या उनकी बुद्धि पर कोई प्रभाव पड़ता है। आवश्यक केवल यह समझा जायेगा कि पुरुष और स्त्री का वह जोड़ा अपने आप में और आनुवंशिकता के कारण इतना गुण-सम्पन्न हो कि उनकी सन्तान वांछनीय हो सकती हो। जब विज्ञान आज की अपेक्षा अधिक अधिकारपूर्ण ढंग से इस प्रश्न पर अपना निर्णय देने योग्य हो जायेगा, तो सम्भव है कि सुजनन के दृष्टिकोण से समुदाय की नैतिक भावना अधिक कड़ी हो जायेगी। जिन पुरुषों की आनुवंशिकता सर्वोत्तम होगी, उनकी पिताओं के रूप में बहुत मांग होगी, परन्तु दूसरे पुरुषों को प्रेमी के रूप में चाहे स्वीकार कर लिया जाये, वे पिता बनना चाहेंगे तो उन्हें अस्वीकार कर दिया जायेगा। आज तक विवाह की संस्था का रूप ऐसा रहा है कि इस प्रकार की योजनाएं मानवीय स्वभाव के विरुद्ध बनी रही हैं, जिसके कारण सुजनन की

व्यावहारिक सम्भावनाएं बड़ी सीमित समझी जाती रहीं हैं। परन्तु यह सोचने का कोई कारण नहीं कि भविष्य में भी मानवीय स्वभाव वैसी ही बाधा बना रहेगा। यह इसलिए भी कि गर्भरोधकों के कारण सन्तानोत्पत्ति और बिना सन्तान के यौन सम्बन्ध के बीच एक दीवार आ गयी है। सम्भव है कि इसीलिए भविष्य में पिताओं का अपनी सन्तान के साथ वैसा व्यक्तिगत सम्बन्ध न रहे जैसा कि पहले रहा है। यदि संसार आचारशास्त्र के सम्बन्ध में अधिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपना ले तो नैतिकतावादी विवाह को जितना गम्भीर समझते थे और उदात्त सामाजिक महत्व देते थे, वह अब केवल सन्तानोत्पत्ति को दिया जायेगा।

इस बात की आशा है कि यह सुजनन सम्बन्धी दृष्टिकोण—यद्यपि प्रारम्भ में यह असाधारण रूप से वैज्ञानिक प्रवृति वाले लोगों के निजी आचार-शास्त्र के रूप में होगा—अधिक विकसित होगा और अधिक लोगों में फैलेगा। हो सकता है कि अन्ततोगत्वा यह कानून का रूप धारण कर ले, जो सम्भवतः यह होगा कि वांछनीय माता-पिता को धन के रूप में पुरस्कृत किया जाये और जो अवांछनीय हों उन्हें आर्थिक दण्ड दिए जायें।

इसमें सन्देह नहीं कि हमें यह विचार बुरा लगता है कि विज्ञान को हमारे व्यक्तिगत मनोवेगों में हस्तक्षेप करने दिया जाये। परन्तु यह हस्तक्षेप उससे कहीं कम होगा जो कि धर्म की ओर से कई युग से होता आया है और जिसे हम सहन करते रहे हैं। संसार में विज्ञान अभी नया-नया है और इसने वह अधिकार प्राप्त नहीं किया जो कि परम्परा और प्रारम्भिक प्रभावों के कारण हम में से बहुत से व्यक्तियों पर धर्म का है। परन्तु इसमें उतनी ही सत्ता प्राप्त करने की क्षमता है और यह बात भी है कि लोग उसी प्रकार इसके आगे झुकेंगे जिस प्रकार कि वे धार्मिक उपदेश के आगे झुकते थे। यह तो सच है कि आने वाली पीढ़ियों के कल्याण की प्रेरणा साधारण आदमी को आवेश के क्षणों में नियंत्रित रखने के लिए पर्याप्त नहीं है, परन्तु यदि यह सकारात्मक नैतिकता का अंग बन जाये जिस पर न केवल प्रशंसा और निन्दा का प्रभाव हो बल्कि आर्थिक पुरस्कार और दण्ड भी लागू हों, तो यह ऐसी बात मानी जाने

लगेगी जिसकी उपेक्षा अच्छे आचार वाला कोई भी व्यक्ति नहीं कर सकेगा। धर्म तो इतिहास के प्रारम्भ से है परन्तु विज्ञान का अस्तित्व अधिकाधिक चार शताब्दियों से है। परन्तु जब विज्ञान पुराना पड़ जायेगा और श्रद्धास्पद बन जायेगा तो यह भी हमारे जीवन को उतना ही नियंत्रित करेगा जितना कि धर्म करता है। मैं उस समय की भी कल्पना कर सकता हूँ जब कि मानवीय आत्मा की स्वतंत्रता चाहने वाले सभी व्यक्तियों को विज्ञान के ज़ुल्म के विरुद्ध विद्रोह करना पड़ेगा। फिर भी, यदि ज़ुल्म होना ही है तो अच्छा है कि वह ज़ुल्म विज्ञान का ही हो।

अध्याय १९

व्यक्ति का कल्याण और सेक्स

इस अध्याय में मैं संक्षेप में उन उन बातों की पुनरावृत्ति करना चाहता हूँ जोकि व्यक्ति के सुख और कल्याण पर सेक्स और यौन नैतिकता के प्रभावों के सम्बन्ध में पिछले अध्यायों में कही गयी हैं। इसके मामले में हमारा सम्बन्ध केवल जीवन के सक्रिय सेक्स-काल या वास्तविक यौन सम्बन्धों से नहीं है। यौन नैतिकता बाल्यावस्था, किशोरावस्था वल्कि वृद्धावस्था में भी नाना प्रकार के प्रभाव डालती है और परिस्थितियों के अनुसार ये प्रभाव अच्छे या बुरे होते हैं।

पारम्परिक नैतिकता का कार्य बाल्यास्था में ही प्रारम्भ हो जाता है, जबकि रूढ़-निषेध लगा दिए जाते हैं। बच्चे को बहुत छोटी आयु में ही कहा जाता है कि जब बड़े देख रहे हों तो अपने शरीर के विशेष अंगों को हाथ न लगाए। उससे कहा जाता है कि मल-मूत्र के त्याग की इच्छा हो तो उसे बहुत धीमे स्वर में प्रकट करना चाहिए और मलमूत्र-के त्याग की क्रिया अकेले में सम्पन्न करना चाहिए। शरीर के कुछ अंगों और क्रियाओं में अद्‌भुत विशेषता होती है, जिसे बच्चा सरलता से समझ नहीं सकता। और इस कारण वे उसके लिए रहस्य और विशेष रुचि का विषय बन जाती हैं। कुछ बौद्धिक समस्याओं के बारे में—जैसे यह कि बच्चे कहां से आते हैं—बच्चों को मन ही मन विचार करना पड़ता हैं; क्योंकि बड़े या तो वास्तविक जानकारी देने से कतराते हैं और या ऐसी बातें बताते हैं जो स्पष्टतया झूठी होती हैं। मैं ऐसे लोगों को जानता हूँ, जो अभी बूढ़े नहीं हैं, जिन्हें बचपन में अपने शरीर का अंग विशेष छूते देख कर कर बड़ी गम्भीरता से कहा गया था—"तुम्हें ऐसा करते देखने से तो तुम्हें मरा हुआ देखना अधिक अच्छा है!" मुझे यह कहते हुए खेद होता है कि ऐसी बातों का

वाद के जीवन में सदाचारी वनाने में वैसा प्रभाव नहीं हुआ जैसा कि परम्परा-निष्ठ नैतिकतावादी चाहते हैं। इस सम्बन्ध में बहुधा धमकी से भी काम लिया जाता है। वच्चों को अंडाकर्पण की धमकी देना सम्भवतः पहले जैसी सामान्य वात नहीं रही, परन्तु उसे यह डर दिखाना तो विल्कुल उचित समझा जाता है कि वह पागल हो जायेगा। वल्कि न्यूयार्क राज्य में तो यदि बच्चे को वता दिया जाये कि खतरा नहीं है तो इस वात को अवैध माना जाता है। इस प्रकार की दीक्षा का परिणाम यह होता है कि अधिकतर वालकों में शैशव काल से ही अपराध और डर की भावना रहने लगती है जिसका सम्बन्ध सेक्स के मामलों से है। यौन अपराध और डर की भावना से सम्बन्ध इतना रूढ़ हो जाता है कि यह पूर्णतया या लगभग अचेतन मन में वैठ जाता है। मैं चाहता हूँ कि जो व्यक्ति अपने आप को वचपन की ऐसी कहानियों के प्रभाव से मुक्त समझते हैं, उनसे पूछताछ करके आंकड़े इकठ्टे किए जायें और यह देखा जाये कि वे आंधी-तूफान के समय भी पर-स्त्रीगमन करने के लिए क्या उतने ही तैयार होंगे जितने कि किसी और समय। मेरा विश्वास है कि उनमें से नव्वे प्रतिशत मन ही मन यह सोचते होंगे कि यदि उन्होंने ऐसे समय पर-स्त्रीगमन किया तो उन पर बिजली टूट पड़ेगी।

पर-पीड़नरति और आत्म-पीड़नरति अपने सहज रूप में तो सामान्य होती हैं परन्तु ये हानिकारक रूप धारण कर लेती है तो केवल इसी कारण कि इनका सम्बन्ध यौन अपराध की भावना से होता है। आत्म-पीड़नरति में संलग्न पुरुष वह होता है जो सेक्स के सम्बन्ध में अपने अपराध का अनुभव बड़ी तीव्रता से करता है। पर-पीड़नरति में संलग्न पुरुष वह होता है जो स्त्री के अपराध की अनुभूति मायाविनी के रूप में अधिक करता है। बाद के जीवन में इन प्रभावों से पता चलता है कि वचपन में नैतिक दीक्षा की अनावश्यक कड़ाई की कितनी गहरी छाप पड़ती है। बच्चों की शिक्षा और विशेषकर छोटे बच्चों के लालन-पालन से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति इस विषय पर अधिक जागरूक हो रहे हैं। पर दुर्भाग्यवश यह जागरूकता न्यायालयों में नहीं पहुँच पाई है।

बचपन और किशोरावस्था जीवन के ऐसे काल होते हैं जब कि खिलवाड़,

शरारतें और निषिद्ध काम सहज और स्वाभाविक क्रियाएं हैं और तब तक उन्हें खेदजनक नहीं माना जाता जब तक कि ये सीमा से आगे न बढ़ जायें। परन्तु वयस्क लोग यौन निषेधों के उल्लंघन को अन्य नियमों के उल्लंघन से अलग मानते हैं और इसलिए बच्चा यह समझता है कि ये उल्लंघन बिल्कुल भिन्न श्रेणी के हैं। यदि बच्चा रसोईघर की अलमारी से फल चुरा ले तो आप खीझ उठेंगे और और बच्चे को डांट पिलाएंगे, परन्तु आप के मन में नैतिक जुगुप्सा नहीं जागेगी और आप बच्चे पर यह प्रकट नहीं करेंगे कि कोई बहुत बुरी बात हो गयी है। परन्तु, इसके विपरीत, यदि आप पुराने ढंग के व्यक्ति हैं और बच्चे को हस्तमैथुन करते देख लेते हैं तो आप की आवाज में ऐसा पुट होगा जैसा फिर किसी और प्रसंग में उसे सुनने को नहीं मिलेगा। इस पुट के कारण उसके मन में घोर आतंक बैठ जायेगा। यह आतंक इस कारण और भी अधिक होगा क्योंकि शायद बच्चा उस व्यवहार से अपने को रोक पाना असम्भव समझता है, जिसके कारण आपने उसकी भर्त्सना की है। बच्चा आपकी गम्भीरता से प्रभावित होकर इस बात में दृढ़ विश्वास करने लगता है कि हस्तमैथुन उतना ही बुरा है जितना कि आप कह रहे हैं। परन्तु फिर भी वह हस्तमैथुन करता ही जाता है। इस प्रकार एक ऐसी विकृति की नींव पड़ जाती है, जो सम्भवतः आजीवन रहती है। बाल्यावस्था से ही वह अपने को पापी समझने लगता है। जल्दी ही छिप कर पाप करना सीख जाता है और इस बात से उसे तनिक सांत्वना मिलती है कि उसके पाप का किसी को ज्ञान नहीं है। अत्यधिक दुःखी होने के कारण वह उन लोगों को दण्ड देकर जो अपना वैसा ही अपराध छिपाने में उसकी अपेक्षा कम सफल रहे हों, संसार से प्रतिशोध लेना चाहता है। बचपन से ही उसे छल की आदत पड़ जाती है और बड़े होने पर उसे छल करने में कोई कठिनाई नहीं होती। इस प्रकार माता-पिता की सदाचारी बनाने—जिसे वह सदाचार समझते हैं—की गलत चेष्टा के कारण वह विकृतिशील, अन्तर्मुखी ढोंगी और उत्पीड़क बन जाता है।

बच्चों के जीवन पर अपराध, लज्जा और भय का प्रभुत्व नहीं रहना चाहिए। उन्हें प्रसन्न, हंसमुख और सहज स्वभाव वाले होना चाहिए। उन्हें अपने

आवेगों से आतंकित नहीं रहना चाहिए। और उन्हें प्राकृतिक तथ्यों की खोज से डर नहीं जाना चाहिए। उन्हें अपने सहजवृत्तिमूलक जीवन को अंधकार में नहीं छिपा लेना चाहिए। उन्हें अपने उन आवेगों को अचेतन के गढ़े में नहीं डाल देना चाहिए जिन्हें वे भरसक प्रयत्न करके भी समाप्त नहीं कर सकते। यदि हम चाहते हैं कि बच्चे बड़े होकर स्पष्टवादी हों, बौद्धिक दृष्टि से ईमानदार हों, कार्य में ऊर्जाशील और चिन्तन में सहिष्णु हों, तो हमें प्रारम्भ से ही उन्हें ऐसा प्रशिक्षण देना चाहिए, जिससे कि ये सद्‌परिणाम सम्भव हो सकें। शिक्षा को बहुत कुछ ऐसा माना गया है जैसे कि भालुओं को नाचना सिखाना। सभी जानते हैं कि भालुओं को नाचना कैसे सिखाया जाता है। उन्हें गरम फ़र्श पर खड़ा कर दिया जाता है, जिसके कारण वे नाचने पर विवश हो जाते हैं क्योंकि न नाचें तो उनके पैरों के तलुए जल जायें। इसके साथ ही साथ एक धुन बजाई जाती है। कुछ समय के बाद गरम फ़र्श की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि वे धुन के साथ-साथ ही नाचने लगते हैं। यही बात बच्चों के लिए भी ठीक है। बच्चे को अपनी कामेन्द्रिय का ज्ञान होता है तो वयस्क लोग उसे डांटने लगते हैं। अन्ततोगत्वा स्थिति यह हो जाती है कि कामेन्द्रिय की चेतना मात्र से ही उसे उनकी डांट का ध्यान आ जाता है और वह उस डांट के अनुकूल ही आचरण करने लगता है। इस प्रकार स्वस्थ या सुखी यौन जीवन की सम्भावना ही नष्ट हो जाती है।

अगले अवस्थान, अर्थात् किशोरावस्था में, सेक्स के प्रति पारम्परिक दृष्टिकोण के कारण, उससे कहीं अधिक दुःख उठाना पड़ता है, जितना कि बचपन में उठाना पड़ता था। बहुत से लड़कों को ठीक-ठीक पता ही नहीं चलता कि उन्हें क्या हो रहा है और जब पहली बार उन्हें स्वप्नदोष होता है तो वे भयभीत हो जाते हैं। वे अपने में उन्हीं मनोवेगों को पाते हैं जिनके सम्बन्ध में उन्हें कहा गया था कि ये बहुत बुरे हैं। ये मनोवेग इतने उग्र होते हैं कि दिन-रात उनके मन पर छाए रहते हैं। अच्छे ढंग के लड़के में, इनके साथ ही साथ, सौन्दर्य और काव्य और आदर्श प्रेम—जिसे सेक्स से अलग माना जाता है—के सम्बन्ध में अत्यधिक आदर्शवादी ढंग के मनोवेग होते हैं। ईसाई शिक्षा में मैनिकीवाद

(यह सिद्धान्त कि ईश्वर की तरह शैतान भी शाश्वत है) के तत्व होने के कारण हम लोगों में किशोरावस्था के आदर्शवाद और यौन मनोवेगों के एक दूसरे से अलग रहने की प्रवृत्ति होती है बल्कि उनका परस्पर संघर्ष भी चलता रहता है। यहां मैं अपने एक बौद्धिक मित्र का उल्लेख करना चाहता हूँ जिसने स्वीकार किया था कि—'मैं समझता हूँ कि मेरी किशोरावस्था भी साधारण लोगों के समान ही बीती और इसमें यह अलगाव प्रचुर मात्रा में था। मैं दिन में घन्टों तक शैले को पढ़ता रहता था और उसकी निम्नलिखित पंक्तियों के भाव प्रवाह में बह जाता था :

शलभ तारिका पर आसक्त है
और रजनी दिनकर की प्रतीक्षा में है।

उसके बाद मैं अचानक भावना के उस शिखर से गिर पड़ता था और छिपकर, कपड़े बदलने में लगी नौकरानी की एक झलक देखने की चेष्टा करता था। इस दूसरे मनोवेग से मुझे बड़ी लज्जा आती थी। पहले मनोवेग में भी निस्सन्देह मूर्खता का पुट था, क्योंकि इसमें निहित आदर्शवाद सेक्स से मूर्खतापूर्ण डर का ही दूसरा पहलू था।"

जैसा कि सभी जानते हैं, किशोरावस्था ऐसा काल है जब कि स्नायविक विकार बहुधा होते हैं; और बहुत से व्यक्ति जो अन्यथा बहुत संतुलित रहते हैं इस अवस्था में बिल्कुल विपरीत आचरण करते हैं। मिस मीड ने अपनी पुस्तक **कमिंग ऑफ़ एज इन समोआ** में इस बात पर बहुत जोर दिया है कि उस द्वीप में किशोरावस्था के विकार देखने को नहीं मिलते और इसका कारण उन्होंने यह बताया है कि वहां पर सेक्स के सम्बन्ध में पूरी स्वतन्त्रता है।[1] यह सच है कि मिशनरियों की कार्यवाहियों के कारण यह स्वतन्त्रता कुछ कम हो रही है। मिस मीड ने जिन लड़कियों से पूछताछ की, उनमें से कुछ मिशनरी के घर में रहती थीं और वे किशोरावस्था में हस्तमैथुन या समलिंग व्यभिचार का सहारा लेती थीं, परन्तु जो बाहर रहती थीं वे लड़कों के साथ भी मैथुन करती थीं। इस सम्बन्ध में, हमारे लड़कों के सुप्रसिद्ध स्कूल भी समोआ के मिशनरी के घर से

---

१. पृष्ठ १५७।

अधिक भिन्न नहीं हैं, परन्तु जो व्यवहार समोआ में हानिरहित है, उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव इंगलैण्ड के स्कूल के लड़के पर बहुत हानिकारक हो सकता है। इसका कारण यह है कि सम्भवतः वह हृदय से परम्परानिष्ठ शिक्षा का आदर करता है जब कि समोआ में यह माना जाता है कि मिशनरी तो अद्भुत पसन्द रखने वाला गोरा आदमी है, जिसे प्रसन्न करने के लिए उसकी बात माननी ही चाहिए।

अधिकतर युवकों को वयस्कता के प्रारम्भिक काल में सेक्स के सम्बन्ध में अनावश्यक प्रकार के कष्ट और कठिनाइयां उठानी पड़ती हैं। यदि कोई युवक ब्रह्मचारी रहता है, तो आत्म संयम की कठिनाई के कारण वह सम्भवतः भीरु बन जाता है और उसके मन में अन्तर्बाधा उत्पन्न हो जाती है। परिणाम यह होता है कि विवाह कर लेने पर भी वह कई वर्ष से चले आ रहे आत्म संयम को तोड़ नहीं पाता। हां, बर्बर ढंग से और अचानक भले ही वह संयम को तोड़ सके जिसके कारण वह प्रेमी के रूप में असफल रहता है और अपनी पत्नी को सन्तोष नहीं दे पाता। यदि वह वेश्याओं के पास जाने लगे तो प्रेम के शारीरिक और आदर्शवादी पहलुओं का अलगाव, जो किशोरावस्था में प्रारम्भ होता है, स्थायी बन जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि स्त्रियों के साथ उसके सम्बन्ध सदा के लिए या तो आध्यात्मिक होते हैं और या ऐसे जिन्हें वह पतन का हेतु मानता है। इसके अतिरिक्त उसे रतिरोग होने का बहुत बड़ा जोखिम रहता है। यदि अपने वर्ग की लड़कियों के साथ उसके सम्बन्ध हो जायें, तो उसे हानि तो कम होती है लेकिन फिर भी उन्हें छिपाए रखने की आवश्यकता हानिकारक होती है और स्थायी सम्बन्धों के विकास में बाधी डालती है। कुछ तो पाखंड के कारण और कुछ इस विश्वास के कारण कि विवाह के तुरन्त बाद बच्चे होने चाहिएं, पुरुषों के लिए उठती जवानी में विवाह करना कठिन होता है। इसके अतिरिक्त जहां तलाक़ कठिन हो, वहां जल्दी विवाह करने में बड़े जोखिम रहते हैं क्योंकि जो दो व्यक्ति बीस वर्ष की आयु में एक दूसरे के अनुरूप होते हैं, उनके तीस वर्ष की आयु में भी अनुरूप रहने की आशा नहीं होती। कुछ लोगों के लिए एक साथी के साथ स्थायी सम्बन्ध रखना तब तक कठिन

रहता है जब तक कि वे भिन्न-भिन्न लोगों के साथ सम्बन्धों का अनुभव प्राप्त नहीं कर लेते। यदि सेक्स के सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण विवेकशील हो, तो हम आशा करेंगे कि विश्वविद्यालयों के छात्र अस्थायी तौर पर विवाह कर लें परन्तु सन्तान उत्पन्न न करें। इस प्रकार के वे सेक्स की मनोग्रस्ति से स्वतंत्र हो जायेंगे, जो कि आजकल उनके कार्य में बड़ी बाधा डालती है। उन्हें दूसरे लिंग के सम्बन्ध में वह अनुभव प्राप्त हो जायेगा जो कि विवाह के बाद बच्चे पैदा करने के गम्भीर सम्बन्ध के लिए आवश्यक है। और वे छल, छिपाव और रोग लग जाने के भय के बिना प्रेम का अनुभव प्राप्त कर सकेंगे जो कि आजकल युवकों के जीवन को विषाक्त कर देते हैं।

स्त्रियों की उस बहुत बड़ी संख्या के लिए, जो कि आज की परिस्थितियों में आजीवन अविवाहित रहने पर विवश होती हैं, पारम्परिक नैतिकता कष्टप्रद है और अधिकतर दशाओं में हानिकर भी है। मैं ऐसी अविवाहित स्त्रियों को जानता हूँ—जैसा कि हम सभी जानते हैं—जो पारम्परिक नैतिकता के दृष्टि-कोण से सदाचारिणी थीं और जिनकी प्रत्येक सम्भव दृष्टिकोण से प्रशंसा की जानी चाहिये। परन्तु मैं समझता हूँ कि सभी अविवाहित स्त्रियां ऐसी नहीं होतीं। जिस स्त्री को सेक्स का कोई अनुभव नहीं हुआ और जिसने अपना सतीत्व बनाए रखने को बहुत महत्व दिया है, वह नकारात्मक प्रतिक्रिया में लगी रही है, जिसमें डर का पुट है और जिसके कारण वह सामन्यतया भीरु हो गयी है। परन्तु इसके साथ ही साथ सहजवृत्तिमूलक अचेतन ईर्ष्या ने उसके मन में सामान्य लोगों के प्रति अननुमोदन का भाव भर दिया है और इस इच्छा को जन्म दिया है कि उन लोगों को दण्ड दे जिन्होंने वे सब सुख उठाए हैं जिनसे वह वंचित रहा है। देर तक कौमार्य के साथ-साथ बहुधा बौद्धिक भीरुता भी आती है। बल्कि मेरा विचार तो यह है कि स्त्रियों में जहां तक बौद्धिक हीनता है, उसका मुख्य कारण यह है कि सेक्स के डर के कारण उनकी जिज्ञासा कुंठित हो जाती है। जो स्त्रियां अपने लिए 'असाधारण' प्रकार का पति नहीं ढूंढ सकतीं और आजीवन कुमारी रहती हैं उनके दुःख और जीवन के अपव्यय का कोई युक्तियुक्त कारण नहीं है। विवाह की संस्था के प्रारम्भ के काल में

इस स्थिति की कल्पना ही नहीं की गयी थी जिसमें उपरोक्त बातें अनिवार्य हैं क्योंकि उन दिनों में स्त्रियों और पुरुषों की संख्या लगभग बराबर-बराबर थी। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत से देशों में स्त्रियों का बाहुल्य बड़ी गम्भीर बात है जिसके आधार पर यह उचित जान पड़ता है कि परम्परानिष्ठ नैतिक आचार संहिता में परिवर्तन किया जाये।

सेक्स के निकास का एक ही साधन विवाह है जिसे परम्परा ने सहन किया है परन्तु इस सम्बन्ध में भी आचार संहिता बड़ी अनम्य है। बचपन में पड़ी मानसिक ग्रंथियों, वेश्याओं के साथ पुरुषों के अनुभवों, युवतियों का सतीत्व बनाए रखने के लिए उनके मन में सेक्स के प्रति उत्पन्न की गयी अरुचि आदि बातें ऐसी हैं जो विवाह को सुखी नहीं होने देतीं। जिस युवती का लालन-पालन ठीक हुआ हो, और यदि उसके यौन मनोवेग उग्र हों तो वह प्रेमोपसेवन काल में किसी पुरुष के साथ अनुरूपता और केवल मात्र यौन आकर्षण में भेद नहीं कर सकती। सम्भव है कि वह उस पहले पुरुष से ही विवाह कर ले जो उसके मनमें कामवासना जगा देता है और सेक्स की भूख मिट जाने पर जब उसे पता चले कि वह पुरुष उसके अनुरूप नहीं है तो बहुत देर हो चुकी हो। उन दोनों की शिक्षा-दीक्षा में इस बात का पूरा प्रयत्न किया गया है कि वह आवश्यकता से अधिक भीरु बन जाती है और पुरुष यौन क्रिया में जल्दबाज़ी से काम लेता है। दोनों में से किसी को भी सेक्स-सम्बन्धी मामलों का वह ज्ञान नहीं है जो कि होना चाहिए और बहुधा ऐसा होता है कि प्रारम्भिक असफलताओं के कारण, जो इस अज्ञान के फलस्वरूप होती हैं, विवाह सेक्स की दृष्टि से दोनों के लिए सदा असन्तोष-प्रद बना रहता है। और फिर मानसिक और शारीरिक साहचर्य कठिन बन जाता है। स्त्री को सेक्स के मामलों के सम्बन्ध में अबाध रूप से विचार प्रकट करने की आदत नहीं होती। पुरुष को भी अन्य पुरुष और वेश्याओं को छोड़ और किसी के साथ ऐसी बातें अबाध रूप से करने की आदत नहीं होती। वे अपने पारस्परिक जीवन के इस निकटतम और सारभूत सम्बन्ध में लजाते हैं, बेढंगी क्रियाएं करते हैं, बल्कि बिल्कुल चुपचाप रहते हैं। पत्नी सम्भवतः सन्तुष्ट नहीं हो पाती और जागती रहती है ; उसे पता नहीं होता कि उसे किसबात की

आवश्यकता है। पुरुष के मन में सम्भवतः क्षण भर के लिए यह विचार आता है कि पत्नी की तुलना में तो वेश्याएं ही आत्मसमर्पण में अधिक उदार होती हैं, परन्तु वह इस विचार का बहिष्कार कर देता है। धीरे-धीरे यह विचार जड़ पकड़ जाता है। वह पत्नी की रुखाई का बुरा मान जाता है परन्तु उसी समय पत्नी स्वयं कष्ट उठा रही होती है क्योंकि पति को यह मालूम नहीं होता कि वह उसे कैसे उद्दीप्त करे। ये सारा कष्ट इसलिए होता है कि हम इस विषय पर चुप्पी साध लेते हैं और शिष्टता बनाए रखते हैं।

तो इन सब बातों के कारण शैशव से किशोरावस्था और वहां से युवावस्था और विवाह तक बल्कि उसके बाद भी पुरानी नैतिकता प्रेम को विषाक्त बना देती है; उसमें निराशा, भय और पारस्परिक विभ्रम, पश्चाताप और स्नायविक बोझ को जन्म देती है। इसलिए सेक्स का शारीरिक मनोवेग और आदर्श प्रेम का आध्यात्मिक मनोवेग एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। पहला मनोवेग पाशविक बन जाता है और दूसरा निष्फल। जीवन बिताने का यह ढंग तो नहीं है। शारीरिक और आध्यात्मिक स्वभाव परस्पर संघर्षशील नहीं होने चाहियें। इन दोनों में कोई ऐसी बात नहीं है जिसके कारण वे एक दूसरे से मेल न खाते हों और इनमें से कोई एक भी दूसरे के साथ मिले बिना फलीभूत नहीं हो सकता। पुरुष और स्त्री का प्रेम अपने उदात्त रूप में निर्बाध और निर्भय होता है, जिसमें शारीरिक और मानसिक तत्व बराबर अनुपात में होते हैं। इसको इस कारण आदर्श मानने का भय नहीं होता कि इसका आधार शारीरिक है और शारीरिक आधार से इस कारण डर नहीं लगता कि इससे उसे आदर्श मानने में बाधा पड़ेगी। प्रेम के वृक्ष की जड़ें पाताल में होनी चाहिये लेकिन उनकी शाखाएं स्वर्ग तक पहुँचनी चाहिएँ। परन्तु जब तक प्रेम के चारों ओर रूढ़-निषेधों, अंध-विश्वास पर आधारित आतंकों और निन्दा के वचनों तथा जुगुप्सा से जनित चुप्पी की बाड़ लगी रहेगी, तब तक इसका विकास नहीं हो सकता और न यह फूल-फल सकता है। पुरुष और स्त्री का प्रेम तथा माता-पिता और बच्चों का प्रेम हमारे भावात्मक जीवन के दो प्रमुख तत्व हैं। परम्परानिष्ठ नैतिकता ने स्त्री-पुरुष के प्रेम को नीचे गिरा दिया है, परन्तु बच्चों के प्रति माता-पिता के

प्रेम को ऊंचा उठाने का ढोंग किया है। सच तो यह है कि बच्चों के प्रति माता-पिता के प्रेम को हानि इसलिए पहुँची है कि माता और पिता के परस्पर प्रेम को नीचे गिरा दिया गया है। जो बच्चे सुखी और फलदायक सम्बन्ध के परिणाम हैं, उनके माता-पिता उनसे अधिक स्वस्थ और सुदृढ़, प्रकृति के अधिक अनुकूल, सरल, प्रत्यक्ष और सहज और फिर भी अधिक स्वार्थहीन और फलदायी प्रेम कर सकते हैं, बजाय उन बच्चों के माता-पिता के जो अतृप्त और असन्तुष्ट हैं। और जो उस प्यार का टुकड़ा पाने के लिए तरसते हैं जो उन्हें विवाह में प्राप्त नहीं हुआ और इस प्रकार वे बच्चों की मनोवृत्ति बिगाड़ देते हैं और अगली पीढ़ी के लिए भी ऐसे ही कष्टों की नींव डाल देते हैं। प्रेम से डरना जीवन से डरने के समान है और जो लोग जीवन से डरते हैं वे तीन-चौथाई तो पहले ही मर चुके हैं।

मानवीय मूल्यों में सेक्स का स्थान

सेक्स सम्बन्धी विषयों पर लिखने वाले लेखक के लिए यह भय रहता है कि जिन लोगों के विचार में ऐसे विषयों की चर्चा नहीं जानी चाहिए, वे यह सोचेंगे कि लेखक पर तो इस विषय का भूत सवार है। यह समझा जाता है कि जब तक उसे इस विषय में इसके महत्व के अनुपात से कहीं अधिक रुचि न हो वह उचित-अनुचित की कड़ी भावना वाले और कामुक लोगों की निन्दा का पात्र बनने का जोखिम नहीं उठाएगा। परन्तु यह विचार उन्हीं लोगों के सम्बन्ध में आता है जो परम्परानिष्ठ आचार शास्त्र में परिवर्तन करना चाहते हैं। उन लोगों को यौन मनोग्रस्ति का शिकार नहीं समझा जाता जो कि वेश्याओं के उत्पीड़न की अपीलें करते हैं, स्त्रियों को वेश्या बनाने के क्रय-विक्रय के विरुद्ध नाम मात्र के कानून पास कराते हैं, परन्तु जो वास्तव में बिना विवाह के, स्वेच्छा से किए गए शिष्ट सम्बन्धों के विरुद्ध होते हैं; ऊंचे-ऊंचे स्कर्ट पहनने और लिपिस्टिक का प्रयोग करने के कारण स्त्रियों की निन्दा करते हैं; और समुद्रतट पर देखते फिरते हैं कि कहीं किसी ने नहाने के ऐसे कपड़े तो नहीं पहन रखे, जिनमें से उसका शरीर दीखता हो। परन्तु फिर भी सच तो यह है कि अधिक यौन स्वतन्त्रता का पक्ष लेने वाले लेखकों की तुलना में इन लोगों में यौन मनोग्रस्ति ज्यादा होती है। उग्र नैतिकता साधारणतया वासनामूलक भावनाओं के विरुद्ध प्रतिक्रिया मात्र होती है और जो व्यक्ति इसकी बात करता है उसके मन में अश्लील विचार भरे होते हैं—ये विचार इस कारण अश्लील नहीं होते कि इनका सम्बन्ध सेक्स से होता है बल्कि इस कारण कि नैतिकता ने सोचने वाले को इस विषय पर स्वच्छ और स्वस्थ ढंग से सोचने योग्य नहीं रहने दिया। मैं चर्च के इस विचार से तो सहमत हूँ कि यौन विषयक

मनोग्रस्ति बुरी बात है परन्तु उससे इस बात में सहमत नहीं हूँ कि इस बुराई को रोकने के सर्वोत्तम उपाय क्या हैं। सेन्ट एन्टोनी यौन मनोग्रस्ति के लिए बदनाम थे; सम्भवतः उनसे बड़ा लम्पट आजतक नहीं हुआ ! मैं उनके बाद के उदाहरण नहीं दूंगा क्योंकि मुझे डर है कि कहीं इसका बुरा न मान लिया जाये। खाने-पीने के समान सेक्स भी एक नैसर्गिक आवश्यकता है। हम पेटू और मदिरोन्मादी व्यक्तियों की निन्दा इसलिए करते हैं कि जिस रुचि का जीवन में उपयुक्त स्थान है, वह उनके विचारों और भावनाओं पर बहुत बुरी तरह छा जाती है। परन्तु जो व्यक्ति भोजन की उचित मात्रा खाकर उसका स्वस्थ और सामान्य आनन्द पा सकता हो, उसकी निन्दा हम नहीं करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि तपस्वियों ने ऐसा किया है और उनका मत यह रहा है कि व्यक्ति को उतना ही खाना चाहिए जितना जीवित रखने के लिए पर्याप्त हो ; परन्तु साधारण लोगों का यह विचार नहीं है और इसलिए इसकी उपेक्षा की जा सकती है। प्यूरिटन सेक्स के सुख से बचने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थे और इसलिए वे पहले युग के लोगों की अपेक्षा भोजन के सुख के प्रति अधिक सजग थे। सत्रहवीं शताब्दी में प्यूरिटनवाद के एक आलोचक ने कहा है :

> आनन्दमय रातें बिताना चाहते हो और षट्रस भोजन के इच्छुक हो
> तो, सन्तों के साथ भोजन करो
> और सब पापिओं के साथ सोओ।"

इससे प्रकट होता है कि प्यूरिटन हमारे मानवीय स्वभाव के भौतिक तत्व को नियंत्रित करने में सफल नहीं हुए क्योंकि सेक्स से उन्होंने जो कुछ छीना वह पेटूपने में जोड़ दिया। कैथॉलिक चर्च ने पेटूपने को सात घातक पापों में से एक माना है और दांते ने पेटुओं को नर्क के एक गहरे गर्त में रखा है। परन्तु यह बड़ा अस्पष्ट-सा पाप है क्योंकि यह कहना कठिन है कि भोजन के प्रति समुचित रुचि कहां समाप्त होती है और अपराध कहां से प्रारम्भ होता है। क्या प्रत्येक उस वस्तु को खाना बुरा है, जो पौष्टिक नहीं है। यदि यह सच है तो नमक लगा प्रत्येक बादाम खाकर हम पाप के भागी बनते हैं। परन्तु ऐसे विचार पुराने हो चुके हैं। किसी पेटू व्यक्ति को देखें तो हम जान जाते हैं कि यह पेटू है और यद्यपि

हम उसे तनिक घृणित समझते हों, पर उसकी कठोर निन्दा नहीं कि जाती। इस बात के होते हुए भी, उन लोगों में–जिन्हें किसी वस्तु का अभाव न रहा हो–ऐसे लोग विरल ही होते हैं जिनके मन में भोजन की अनुचित मनोग्रस्ति रहती हो। अधिकतर लोग भोजन कर चुकने पर अन्य बातों में लग जाते हैं और अगले भोजन के समय तक खाने-पीने की चिन्ता नहीं करते। परन्तु इसके विपरीत, जिन लोगों ने संयमवाद की नीति अपनाकर न्यूनतम भोजन को छोड़ खाने-पीने की और सभी वस्तुओं से अपने को को वंचित रखा हो, उनके मन में भोजोत्सवों की ही कल्पना रहती है या सपनों में राक्षसों को रसीले फलों को ले जाते देखते हैं। दक्षिणी ध्रुव तक पहुँचने वाले खोजी रास्ता भूलकर किसी स्थान पर फंस जायें और उन्हें व्हेल मछली की चर्बी के अतिरिक्त कुछ भी खाने को न मिले तो वे यह सोचते रहते हैं कि अपने नगर में लौटकर वे कार्ल्टन होटल में कैसा बढ़िया भोजन करेंगे।

इन तथ्यों से पता चलता है कि यदि सेक्स को मनोग्रस्ति नहीं बनाना है तो नैतिकतावादियों का चाहिए कि उसे ठीक वैसा ही समझें जैसा कि भोजन को समझा जाने लगा है न कि वैसा जैसा कि यूनान में स्थित नगर थेबे के तपस्वी भोजन को समझते थे। खाने-पीने भी तरह सेक्स भी नैसर्गिक मानवीय आवश्यकता है। यह सच है कि लोग इसके बिना जीवित रह सकते हैं, खाने-पीने के बिना नहीं। परन्तु मनोविज्ञान की दृष्टि से सेक्स की इच्छा बिल्कुल वैसी ही है जैसी कि खाने-पीने की इच्छा। निग्रह के कारण यह बहुधा बहुत बढ़ जाती है और सन्तोष पाकर अस्थायी रूप से कम हो जाती है। यह अविलम्बनीय आवश्यकता है और इसके कारण बाकी सारा संसार आपकी दृष्टि से ओझल हो जाता है। उस समय तो बाकी सभी रुचियाँ लुप्त हो जाती हैं और इसके कारण व्यक्ति ऐसे काम कर बैठता है जो बाद में उसे उन्मादपूर्ण लगते हैं। और फिर जैसे कि खान-पान में होता है, निषेध इस इच्छा को भी उद्दीप्त कर देता है। मैंने ऐसे बच्चे देखे हैं जो प्रातः कालीन भोजन के समय सेब खाने से इनकार कर देते हैं और उसके बाद बाग में जाकर सेब चुराते हैं। यद्यपि प्रातः भोजन के समय दिए जाने वाले सेब पके हुए होते हैं, लेकिन बाग के

कच्चे सेब उन्हें पसन्द आते हैं। मैं समझता हूँ कि इस बात की सत्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता कि धनाढ्य अमेरिकनों में मद्यपान की इच्छा बीस वर्ष पहले की अपेक्षा आज अधिक तीव्र है। उसी प्रकार ईसाई शिक्षा और धर्माधिकारियों ने सेक्स में रुचि को बहुत प्रोत्साहन दिया है। इसलिए जो पीढ़ी पारम्परिक शिक्षा में विश्वास करना छोड़ देगी इसमें उस पीढ़ी की अपेक्षा कहीं अधिक यौन स्वच्छन्दता होगी, जिसके सेक्स-सम्बन्धी विचारों पर अन्ध-विश्वास पर आधारित शिक्षा का सकारात्मक या नकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ा है। सेक्स के सम्बन्ध में अत्यधिक मनोग्रस्ति से यदि कोई परित्राण है तो स्वतन्त्रता में, परन्तु स्वतन्त्रता का भी यह प्रभाव तब तक नहीं होगा जब तक कि यह स्वतन्त्रता स्वभाव का ही अंग न बन जाये और यौन विषयों के सम्बन्ध में विवेकशील शिक्षा स्वतन्त्रता से न दी जाये। परन्तु मैं इस बात को यथासम्भव जोर देकर दोहराना चाहता हूँ कि इस विषय में अत्यधिक उलझे रहना बुरा है और मैं समझता हूँ कि यह बुराई, आजकल विशेषकर अमेरिका में, बहुत प्रचलित है जहां कि कठोर नैतिकतावादियों में यह बड़े उग्र रूप में दिखाई देती है; वे लोग उन लोगों के सम्बन्ध में झूठी बातों पर विश्वास करके इसका प्रमाण देते हैं जिन्हें कि वे अपना विरोधी समझते हैं। पेटू, लम्पट और तपस्वी सभी अपने आप में मग्न व्यक्ति हैं, जिनका क्षितिज उनकी इच्छाओं के अनुसार सीमित है— या इस कारण कि वे इच्छाओं की पूर्ति करते हैं और या इसलिए कि वे परित्याग करते हैं। जिस व्यक्ति का शरीर और मन दोनों स्वस्थ हैं, वह अपनी सारी रुचि अपने पर ही केन्द्रित नहीं रखेगा। वह संसार की ओर दृष्टिपात करेगा और उसे ऐसी वस्तुएं दिखाई पड़ेंगी जोकि उसके ध्यान की पात्र हैं। अपने आप में ही मग्न रहना सभ्यता-रहित मानव की स्वाभाविक स्थिति नहीं है जैसा कि कुछ लोग समझते हैं। यह एक रोग है जो लगभग सदा ही इस कारण होता है कि नैसर्गिक आवेग किसी सीमा तक कुण्ठित रहे हैं। लम्पट, जोकि यौन इच्छा की पूर्ति की कल्पना में मस्त रहता है, साधारणतया इसी कारण इस कल्पना में मस्त रहता है कि वह किसी वस्तु से वंचित रहा है, बिल्कुल वैसे ही जैसे कि खाद्यान्न का संग्रह वही व्यक्ति करता है, जिसे दुर्भिक्ष या निर्धनता का सामना

करना पड़ा हो। स्त्रियाँ और पुरुष स्वस्थ और बहिर्मुखी प्रवृत्ति वाले तभी बन सकते हैं जब कि उनके नैसर्गिक आवेग कुंठित न किए जायें बल्कि सुखी जीवन के लिए आवश्यक आवेगों का समान और संतुलित विकास किया जाये।

मैं यह नहीं कह रहा कि सेक्स के सम्बन्ध में कोई नैतिकता या आत्मनिग्रह नहीं होना चाहिए या उससे अधिक नहीं होना चाहिए जितना कि भोजन के सम्बन्ध में है। भोजन के सम्बन्ध में तीन प्रकार के निग्रह हैं : कानून के, शिष्टाचार के और स्वास्थ्य के। हम इस बात को बुरा समझते हैं कि हम भोजन चुराएं, इकट्ठे खाने बैठें तो अपने हिस्से से अधिक खा लें या उसे ऐसे ढंग से खाएं कि बीमार पड़ने का भय हो। सेक्स के सम्बन्ध में भी उसी प्रकार के निग्रह आवश्यक हैं। परन्तु इस मामले में वे अधिक जटिल हैं और उनके लिए अधिक आत्मसंयम की आवश्यकता है। और फिर चूंकि किसी मानव को यह नहीं समझना चाहिए कि दूसरे की सम्पत्ति में उसका भी हिस्सा है, पर-स्त्रीगमन नहीं वरन् बलात्कार चोरी करने के सदृश है, जिसे कानून द्वारा प्रत्यक्षतः निषिद्ध बना देना चाहिए। स्वास्थ्य के बारे में जो प्रश्न उत्पन्न होते हैं उनका सम्बन्ध लगभग पूरी तरह रतिरोग से है और इस विषय की चर्चा हम वेश्यावृत्ति के सम्बन्ध में कर चुके हैं। यह स्पष्ट है कि इस बुराई को रोकने का उपाय चिकित्सा के साथ-साथ यह है कि वेश्याओं की वृत्ति को कम कर दिया जाये और वेश्यावृत्ति को कम करने का उपाय यह है कि युवक-युवतियों को अधिक स्वतन्त्रता हो जो कि हाल ही के वर्षों में बढ़ भी रही है।

सेक्स के सम्बन्ध में सर्वतोमुखी आचारशास्त्र में सेक्स को नैसर्गिक क्षुधामात्र और जोखिम का सम्भाव्य स्रोत मात्र नहीं माना जा सकता। इन दोनों दृष्टिकोणों का महत्व है। परन्तु उनसे भी अधिक महत्व इस बात का है कि सेक्स का सम्बन्ध मानवीय जीवन की कुछ सर्वोत्तम बातों से है। इनमें तीन बातें सर्वोपरि दिखाई पड़ती है : काव्य प्रेम, सुखी विवाह, और कला। काव्य प्रेम और विवाह की बात हम पहले ही कर चुके हैं। बहुत से व्यक्ति समझते हैं कि सेक्स और कला का कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु आज इस विचार के मानने वालों की संख्या पहले की अपेक्षा बहुत कम हो गयी है। यह बात

समुचित रूप से स्पष्ट है कि सुन्दर कृति के प्रत्येक आवेग का मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध प्रेमोपसेवन से होता है। यह आवश्यक नहीं कि यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष या स्पष्ट रूप में हो, परन्तु यह होता बड़ा गहरा है। यौन मनोवेग कलात्मक अभिव्यक्ति की ओर अग्रसर हो इसके लिए कुछ जरूरी शर्तें हैं। कलात्मक क्षमता होनी चाहिए; परन्तु कलात्मक क्षमता, किसी विशेष जाति में भी, एक समय सामान्य लगती है परन्तु और किसी समय असामान्य हो जाती है। इससे यह तो निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कलात्मक मनोवेग के विकास में जन्मजात प्रतिभा के विपरीत परिवेश का अधिक हाथ रहता है। एक विशेष प्रकार की स्वतन्त्रता का होना भी आवश्यक है, पर वैसी नहीं कि कलाकार को पुरस्कृत किया जाये, बल्कि ऐसी कि उसे वैसी आदतें डालने पर विवश न किया जाये जिनके कारण वह अरसिक बन जाये। जब जूलियस द्वितीय ने माइकेलेंजेलो को कारावास में भेजा, तो उसने उस प्रकार की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं किया जिसकी आवश्यकता कलाकार को पड़ती है। उसने उसे इसलिए जेल में डाला कि वह उसे बहुत महत्वपूर्ण व्यक्ति समझता था और यह क़तई सहन नहीं कर सकता था कि पोप से कम हैसियत का कोई व्यक्ति उसे किसी प्रकार रुष्ट करे। परन्तु जब किसी कलाकार को अपने धनी संरक्षकों या नगरपालिका के सदस्यों के आगे घुटने टेकने पड़ें या अपनी वृत्तियों को उनके सौन्दर्य बोध के नियमों के अनुकूल बनाना पड़ता है तो उसकी कलात्मक स्वतन्त्रता जाती रहती है। और जब उसे सामाजिक या आर्थिक उत्पीड़न के डर से उस विवाह बन्धन में बंधे रहना पड़ता है जो असहनीय हो गया हो, तब वह उस ऊर्जा से वंचित हो जाता है जो कि कलाकृति के लिए आवश्यक है। जिन समाजों में परम्परानिष्ठ सदाचार रहा है, उनमें महान कला का जन्म नहीं हुआ। जिनमें हुआ है, उनमें ऐसे पुरुष थे, जिनका इडाहो राज्य में वंध्याकरण कर दिया जायेगा। आजकल अमेरिका में जो भी महान कलाकार हैं, योरुप से आए हैं, जहां अभी तक स्वतन्त्रता बाक़ी है। परन्तु योरुप पर अमेरिका का प्रभाव पड़ने के कारण उसे हब्शियों की ओर उन्मुख होना पड़ रहा है। ऐसा लगता है कि कला अन्ततोगत्वा तिब्बत के ऊंचे शिखरों पर नहीं तो अपर

कांगों में जा कर आश्रय लेगी। परन्तु इसके समाप्त होने में अधिक देर नहीं लगेगी क्योंकि अमेरिका विदेशी कलाकारों को जिस प्रकार के पुरस्कार देने के लिए तैयार है, उनके कारण कलाकारों की कला का हनन हो जायेगा। पहले समय में कला का आधार सर्वसाधारण पर रहा है और उसका आधार जीवन के सुख पर था। और जीवन के सुख के लिए आवश्यक है कि सेक्स के सम्बन्ध में कुछ सहज-व्यवहार हो। जहां सेक्स का दमन हुआ है और केवल कार्य ही बाक़ी रह गया है, वहां "कार्य के लिए कार्य' के सिद्धान्त ने किसी भी ऐसे कार्य को जन्म नहीं दिया जो करने योग्य हो। आप मुझे यह न बताइए कि किसी ने इस सम्बन्ध में आंकड़े इकट्ठे किए हैं कि संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रति दिन (या प्रति रात्रि कहें ?) कितनी बार मैथुन होता है और उन आंकड़ों से पता चलता है कि मैथुन की प्रति व्यक्ति संख्या उतनी ही है जितनी कि किसी और देश में। मैं नहीं जानता कि यह बात ठीक है या नहीं और न मुझे इसकी इतनी चिन्ता ही है कि इसका प्रतिवाद करता फिरूं। परम्परानिष्ठ नैतिकतावादियों में एक सबसे जोखिमपूर्ण भ्रान्ति यह है कि वे सेक्स को मैथुन तक ही सीमित कर देते हैं, जिससे कि वे इसकी अधिक सुचारु रूप से निन्दा कर सकें। कोई भी सभ्य पुरुष—और जहां तक मुझे पता है कोई भी असभ्य पुरुष—केवल मैथुन से ही अपनी सेक्स की वृत्ति को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। यदि उस मनोवेग को सन्तुष्ट करना है, जो मैथुन की ओर प्रवृत्त करता है तो प्रेमोपसेवन आवश्यक है, प्रेम आवश्यक है और साहचर्य भी आवश्यक है। इनके बिना, शारीरिक क्षुधा चाहे कुछ समय के लिए सन्तुष्ट हो जाये, मानसिक क्षुधा वैसे ही रहती है और कोई गहरा सन्तोष प्राप्त नहीं किया जा सकता। कलाकार को जिस यौन स्वतन्त्रता की आवश्यकता है, वह है प्रेम करने की स्वतन्त्रता, न कि किसी अज्ञात स्त्री के साथ शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति करने की भद्दी स्वतन्त्रता। और प्रेम करने की स्वतन्त्रता ऐसी बात है जिसकी अनुमति परम्परानिष्ठ नैतिकतावादी कभी नहीं देंगे। विश्व के अमेरिकी ढांचे में ढल जाने के बाद, कला के पुनर्जन्म के लिए यह आवश्यक है कि अमेरिका अपने आप को बदले। उसके नैतिकतावादियों को कम नैतिकतावादी बन

जाना चाहिए और अनैतिकतावादियों को कम अनैतिकतावादी। यह आवश्यक है कि इन दोनों श्रेणियों के लोग इस बात को समझें कि सेक्स के कुछ उदात्त मूल्य हैं और इस सम्भावना को स्वीकार करें कि बैंक में धन जमा होने की अपेक्षा सुख का मूल्य अधिक हो सकता है। अमेरिका में जाने वाले विदेशियों को जो बात सबसे अधिक खलती है, वह है सुख का अभाव। वहाँ सुख उत्तेजना और मद्यपान में ही है, जिसका उद्देश्य क्षण भर के लिए अपने को भुला देना है और यह सुखमय आत्माभिव्यक्ति के रूप में कभी दिखाई नहीं पड़ता। जिन पुरुषों के दादा बालकन या पोलैण्ड के गांवों में नफ़ीरी की धुन पर नाचते थे, वे सारे दिन अपनी कुर्सियों से चिपके बैठे रहते हैं। इनके आसपास टाइप की मशीनों और टेलीफ़ोनों का शोर रहता है और वे अपने को गम्भीर तथा महत्वशाली समझते हैं, परन्तु वास्तव में वे किसी काम के नहीं होते। संध्या समय दफ़्तरों से छूट कर मद्यपान और नए प्रकार के कोलाहल में जा कर वे समझते हैं कि हमने सुख पा लिया। परन्तु वास्तविकता यह है कि वे उस धनोपार्जन की बेकार दिनचर्या को भुला देने के असफल प्रयत्न में रहते हैं, जिससे अधिक धन की प्राप्ति होती है और जिसके लिए वे उन मानवों के शरीरों का प्रयोग करते हैं जिनकी आत्मा दासता के बन्धनों में जकड़ी रहती है।

मेरा तात्पर्य यह नहीं, और न मैं इसमें विश्वास ही करता हूँ, कि मानवीय जीवन की प्रत्येक अच्छी बात का सम्बन्ध सेक्स से है। मैं यह नहीं समझता कि व्यावहारिक या सैद्धान्तिक विज्ञान, या कुछ विशेष प्रकार की महत्वपूर्ण सामाजिक और राजनीतिक कार्यवाहियों का सम्बन्ध सेक्स से । जिन मनोवेगों के कारण वयस्क जीवन की जटिल कामनाओं का जन्म होता है, उन्हें कुछ सीधे-सादे शीर्षों के अन्तर्गत रखा सकता है। मैं समझता हूँ कि आत्मसंरक्षण के लिए जो काम आवश्यक हैं उन्हें छोड़कर मानवों के सभी कृत्यों का स्रोत शक्ति, सेक्स और मातृत्व तथा पितृत्व को ही माना जा सकता है। इन सब में शक्ति का प्रारम्भ सबसे पहले होता है और सबके बाद समाप्त होता है। चूंकि बच्चे की कोई शक्ति नहीं होती, इसलिए उस पर अधिक शक्ति प्राप्त करने की कामना का प्रभाव रहता है। सच तो यह है कि उसकी अधिकतर कार्यवाहियों का स्रोत

यह कामना ही है। उसकी दूसरी प्रभुत्वशाली कामना अहंकार है—अर्थात् प्रशंसा पाने की इच्छा और यह डर कि कहीं उसकी निन्दा न हो या उसे सबसे अलग न छोड़ दिया जाये। अहंकार के कारण ही वह सामाजिक जीव बनता है और उसमें वे गुण आते हैं जो समुदाय में जीने के लिए आवश्यक हैं। अहंकार ऐसी प्रेरणा है जिस का सेक्स से गहरा सम्बन्ध है। सिद्धान्त रूप में चाहे उसे अलग समझा जा सकता है, परन्तु, जहां तक मैं समझ पाया हूँ, शक्ति का सेक्स से बहुत कम सम्बन्ध है और यह कि शक्ति का प्रेम ही—कम से कम उतना ही जितना कि अहंकार—वह प्रेरणा है जिसके कारण बच्चा पढ़ाई में दिल लगाकर काम करता है और अपने शारीरिक बल का विकास करता है। मैं समझता हूँ कि जिज्ञासा और ज्ञान-साधना को शक्ति के प्रेम की ही एक शाखा मानना चाहिए। यदि ज्ञान ही शक्ति है तो ज्ञान का प्रेम ही शक्ति का प्रेम है। इसलिए, जीवशास्त्र और शरीरशास्त्र की कुछ शाखाओं को छोड़ कर, विज्ञान को यौन भावनाओं के क्षेत्र से बाहर ही समझना चाहिए। क्योंकि सम्राट फ्रैडरिक द्वितीय जीवित नहीं हैं, इसलिए उनकी राय तो कमोबेश उपकाल्पनिक ही मानी जायेगी, परन्तु यदि वे जीवित होते तो इसमें सन्देह नहीं कि वे इस बात का निर्णय करने के लिए एक प्रमुख गणितशास्त्री और एक प्रमुख संगीत रचयिता का अण्डाकर्षण करा देते और फिर देखते कि इसका उनके काम पर क्या प्रभाव पड़ता है। मैं समझता हूँ कि इस बात का गणित शास्त्री पर कोई प्रभाव न होता लेकिन संगीत-रचयिता पर बहुत प्रभाव पड़ता। चूंकि मानवीय स्वभाव के अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्वों में ज्ञान की साधना भी एक है इसलिए—यदि हमारी बात ठीक है—कृत्यों का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र सेक्स के प्रभुत्व से मुक्त हो जाता है।

शक्ति को उसके व्यापक अर्थ में समझा जाये तो अधिकतर राजनीतिक क्रियाओं की प्रेरणा शक्ति ही है। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि कोई महान राजनेता सर्वसाधारण के कल्याण के प्रति उपेक्षाशील होता है, बल्कि इसके विपरीत मैं यह मानता हूँ कि वह ऐसा व्यक्ति है जिसमें पितृत्व की भावना बहुत बड़े क्षेत्र में फैल गयी है। परन्तु यदि उसमें शक्ति का प्रेम प्रचुर मात्रा में नहीं होगा

तो वह निरन्तर इतना परिश्रम जारी नहीं रख सकेगा जितना किसी भी राजनीतिक उद्यम में सफलता के लिए आवश्यक है। मैंने सार्वजनिक जीवन में बहुत से ऊंचे आदर्शों वाले व्यक्ति देखे हैं, परन्तु यदि उनमें व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा पर्याप्त मात्रा में न होती तो उनमें वह ऊर्जा कभी संचरित न होती जो उनके सद्उद्देश्यों का पूर्ति के लिए आवश्यक थी। एक बड़े नाजुक अवसर पर अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने सिनेट के दो अवज्ञाकारी सदस्यों को भाषण दिया था, जिसके प्रारम्भ में और अन्त में ये शब्द थे : "मैं संयुक्त राज्य अमेरिका का राष्ट्रपति हूँ जिसे बहुत शक्ति प्राप्त है।" इस बात में सन्देह नहीं किया जा सकता कि उन्हें इस तथ्य पर ज़ोर देने में कुछ सुख की अनुभूति हुई थी। सारी राजनीति में, वह अच्छाई के लिए हो या बुराई के लिए—दो मुख्य तत्व होते हैं : आर्थिक प्रेरणा और शक्ति का प्रेम। मेरे विचार में फ्रायड की विचारशैली के अनुसार राजनीति का निर्वचन करना ग़लती है।

हमने जो कुछ कहा है, यदि वह सच है तो कलाकारों को छोड़ कर अधिकतर महान व्यक्तियों की महत्वपूर्ण क्रियाओं की प्रेरणाओं का सेक्स के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं था। इन क्रियाओं के बने रहने के लिए और कुछ हल्के रूप में सामान्य बनने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति के बाकी के भावात्मक और आवेगात्मक स्वभाव पर सेक्स न छा जाये। प्रगति के दो मुख्य साधन हैं : संसार को समझने की इच्छा और उसका सुधार करने की इच्छा, जिनके बिना मानवीय समाज गतिहीन ही रहेगा और या अवनति की ओर अग्रसर होगा। यह भी सम्भव है कि यदि सुख बहुत सम्पूर्ण हो तो ज्ञान और सुधार के मनोवेग विलुप्त हो जायें। जब कॉब्डन ने मुक्त व्यापार की मांग के लिए होने वाले आन्दोलन में जॉन ब्राइट से समर्थन चाहा तो उसने अपनी अपील को व्यक्तिगत रूप दे दिया। उसने ब्राइट की पत्नी की हाल की मृत्यु से हुए शोक की भावना को सम्बोधित किया। सम्भव है कि ब्राइट को शोक न होता तो उसे दूसरों के दुःख के साथ कम सहानुभूति होती। और बहुत से व्यक्ति तो यथार्थ के संसार से निराश होकर अमूर्त बातों की ओर झुकते हैं। पर्याप्त ऊर्जाशील व्यक्ति के लिए पीड़ा बहुमूल्य उद्दीपन का काम करती है और मैं इस बात की सत्यता से

इनकार नहीं करता कि यदि हम सभी पूर्णरूपेण सुखी हों तो अधिक सुखी होने के लिए प्रयत्नशील नहीं होंगे। परन्तु मैं यह नहीं मान सकता कि मानवों के कर्तव्य का एक अंग यह भी है कि वे इस आशा से दूसरों को कष्ट दें, कि शायद वह कष्ट लाभदायक सिद्ध हो। सौ में से निन्यानवे व्यक्तियों को कष्ट चकनाचूर कर देता है। सौवें व्यक्ति को तो उन स्वाभाविक धक्कों के सहने के लिए छोड़ देना चाहिए, जो मानवों के भाग्य में लिखे हैं। जब तक मृत्यु रहेगी, दुःख रहेंगे और जब तक दुःख विद्यमान है मानवों को अपने कर्तव्य का एक अंग यह नहीं मान लेना चाहिए कि वे इस दुःख की मात्रा में वृद्धि करें, हालांकि कुछ विरल व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो इस दुःख का रूप-परिवर्तन करने की विधि जानते हैं।

उपसंहार

विचार करने के वाद हम कुछ निष्कर्षों पर पहुँचे हैं, जिनमें से कुछ तो ऐतिहासिक हैं और कुछ नैतिक। इतिहास की दृष्टि से हमने देखा है कि सभ्य समाजों में नैतिकता जिस रूप में है, उसके दो विभिन्न स्रोत हैं: एक तो यह इच्छा है कि पितृत्व निश्चित हो और दूसरा यह तापसी विश्वास कि सन्तानोत्पत्ति के अतिरिक्त सेक्स बुरा है। ईसा पूर्व युग में और भारत और ईरान को छोड़—जो कि सयंमवाद के केन्द्र रहे हैं और मालूम होता है कि यह वहीं से आगे फैला—सुदूर पूर्व में अभी तक नैतिकता का स्रोत पहला ही है, अर्थात् पितृत्व निश्चित करने की इच्छा। परन्तु इस इच्छा का अस्तित्व उन पिछड़ी हुई जातियों में नहीं है जो इस तथ्य से अनभिज्ञ हैं कि सन्तानोत्पत्ति में पुरुष का कोई भी सहयोग होता है। उनमें पुरुषों की ईर्ष्या के कारण स्त्रियों की स्वच्छन्दता पर बन्धन तो लग जाते हैं लेकिन उनकी स्त्रियां प्रारम्भ के पितृसत्तात्मक समाजों की स्त्रियों की तुलना में बहुत अधिक स्वतन्त्र होती है। यह स्पष्ट है कि संक्रमण काल में काफी संघर्ष हुआ होगा और पुरुषों का निस्सन्देह स्त्रियों की स्वतंत्रता पर बन्धन आवश्यक मालूम हुए होंगे, क्योंकि वे अपने बच्चों के पिता बनना चाहते थे। उस दौर में यौन नैतिकता केवल स्त्रियों के लिए थी। पुरुष किसी अन्य की पत्नी के साथ मैथुन नहीं कर सकता था, परन्तु अन्यथा वह स्वतन्त्र था।

ईसाई मत के उदय के साथ, पाप से बचने की नयी प्रेरणा का प्रादुर्भाव हुआ है और नैतिक कसौटी सिद्धान्त रूप में पुरुषों के लिए भी वैसी ही बन गई जैसी की स्त्रियों के लिए थी। हां, यह बात दूसरी है कि व्यवहार में इसे पुरुषों पर लागू करने की कठिनाई के कारण, स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की

त्रुटियों के प्रति सदा अधिक सहिष्णुता बरती गयी । प्रारम्भिक यौन नैतिकता का प्रयोजन स्पष्टतया जीवशास्त्रीय था, अर्थात् यह निश्चित प्रबन्ध करना था कि बच्चों को शैशवावस्था में न केवल मां का बल्कि पिता का भी संरक्षण प्राप्त हो। ईसाई धर्म के व्यवहार में तो नहीं परन्तु सिद्धान्त में इस प्रयोजन की ओर ध्यान नहीं रखा गया ।

हाल के युग में इस बात के चिन्ह मिलते हैं कि यौन नैतिकता के ईसाई और ईसा पूर्व, दोनों अंगों का रूप बदल रहा है । ईसाई अंग का इतना प्रभुत्व नहीं रहा जितना कि पहले था क्योंकि धार्मिक रूढ़िवादिता का ह्रास हो रहा है और जो लोग धर्म में विश्वास करते हैं, उनका विश्वास अभी कम उग्र हो रहा है । प्रस्तुत शताब्दी में जन्म लेने वाले स्त्री-पुरुषों के अचेतन मन में पुरानी अभिवृत्तियां अभी जीवित हैं, परन्तु बहुधा सचेत रूप से वे इस बात में विश्वास नहीं करते कि अनूढ़ागमन पाप है । जहां तक यौन नैतिकता में ईसा पूर्व तत्वों का सम्बन्ध है, उनका रूपभेद एक कारण से हो चुका है और दूसरे से हो रहा है । इनमें से पहला कारण है गर्भरोधक, जिसके कारण मैथुन के फलस्वरूप गर्भाधान को रोकना अधिक सम्भव होता जा रहा है ; और इसलिए अविवाहित स्त्रियां मां बनने से सर्वथा बच सकती हैं और विवाहित स्त्रियां अपने पति की सन्तान को ही जन्म दे सकती हैं । और इस प्रकार उन्हें, चाहे विवाहिता हों या अविवाहिता, सदाचारिणी होने की आवश्यकता नहीं है । यह प्रक्रिया अभी सम्पूर्ण नहीं हुई है क्योंकि अभी तक गर्भरोधक पूर्णरूपेण विश्वसनीय नहीं हो सके हैं। परन्तु मैं सोचता हूँ कि यह माना जा सकता है कि कुछ ही समय बाद वे ऐसे बनने लगेंगे । उस अवस्था में—इस बात पर जोर दिए बिना कि स्त्रियां पति के अतिरिक्त और किसी से सम्भोग न कराएं—पितृत्व निश्चित हो सकेगा । यह कहा जा सकता है कि इस सम्बन्ध में स्त्रियां अपने पतियों को धोखा दे सकेंगी, परन्तु स्त्रियों के लिए धोखा देना तो प्रारम्भ से ही बहुत सरल रहा है । और जब यह प्रश्न हो कि सन्तान का पिता कौन हो, उस समय धोखा देने की प्रेरणा कम प्रबल होगी बजाय उस स्थिति के कि जब प्रश्न यह हो कि उस व्यक्ति के साथ सम्भोग हो या नहीं, जिसके साथ गहरा प्रेम है । इसलिए हम यह मान सकते

हैं कि यद्यपि सन्तान के पितृत्व के सम्बन्ध में स्त्रियां इस प्रकार का धोखा यदा-कदा देंगी परन्तु उतना नहीं जितना कि पुराने समय में पर-पुरुषगमन के सम्बन्ध में दिया जाता था। और यह बात भी असम्भव नहीं है कि पतियों की ईर्ष्या, किसी भी रूढ़ि के अनुसार, अपने को नयी स्थिति के अनुकूल बना ले और तभी जागे जब कि पत्नियां अन्य पुरुषों को अपनी अपनी सन्तान के पिता के रूप में चुनें। पूर्वी जगत में पुरुषों ने अपनी पत्नियों के प्रति कंचुकियों के उच्छृंखल व्यवहार को सहन किया है जिसे कि अधिकतर योरुपीय पति बुरा मानेंगे। उन्होंने उनका व्यवहार इसलिए सहन किया है कि उनसे सन्तान के पितृत्व के सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न नहीं होता। सम्भव है कि गर्भरोधकों का प्रयोग करने वालों की उच्छृंखल हरकतें भी सहन न ही सहन की जाने लगें।

इसलिए भविष्य में ऐसा परिवार बना रह सकता है, जिसमें माता के साथ-साथ पिता का भी स्थान रहे और उसके लिए स्त्रियों से उतने आत्मनिग्रह की भी अपेक्षा न करनी पड़े, जितनी कि पहले की जाती थी। परन्तु यौन नैतिकता में जो परिवर्तन हो रहा है उसका दूसरा कारण ऐसा है जिसका प्रभाव दूरगामी हो सकता है—यह है बच्चों के भरण-पोषण में राज्य का हाथ, जो कि बढ़ता ही जा रहा है। इस कारण का प्रभाव अभी तक तो मुख्यतया वेतनभोगी वर्गों पर ही हुआ है, परन्तु अन्ततोगत्वा जनसंख्या का अधिकतर भाग वेतनभोगी वर्ग ही तो है और बहुत सम्भव है कि जैसे राज्य आजकल उनमें पिता का स्थान ले रहा है, वैसे ही धीरे-धीरे वह सारी जनसंख्या में पिता का स्थान ले ले। पशु-परिवारों के समान मानव परिवारों में भी पिता का योग इतना ही रहा है कि वह सन्तान की रक्षा करे और उसके भरण-पोषण का प्रबन्ध करे। परन्तु सभ्य समुदायों में रक्षा पुलिस करती है और सम्भव है कि भरण-पोषण का प्रबन्ध—कम से कम जहां तक निर्धन वर्गों का सम्बन्ध है—पूरी तरह राज्य ही करने लगे। यदि ऐसा हो गया तो पिता का कोई स्पष्ट प्रयोजन नहीं रहेगा। माता के सम्बन्ध में तो दो सम्भावनाएं हैं एक तो यह है कि वह अपना सामान्य काम जारी रखे और अपने बच्चों को संस्थाओं की देख-रेख में छोड़ दे और या—दूसरी सम्भावना यह है—यदि कानून ऐसा निर्णय करे तो राज्य उसे अपने बच्चों के बड़े

होने तक उनकी देखभाल के लिए पारिश्रमिक देने लगे। यदि यह दूसरा रास्ता अपनाया गया तो सम्भव है कि इसे कुछ दिनों तक परम्परानिष्ठ नैतिकता को सुदृढ़ बनाने के लिए प्रयुक्त किया जाये क्योंकि यदि कोई स्त्री सदाचारिणी न हो तो उसे पारिश्रमिक देना बन्द किया जा सकेगा। यदि उसे पारिश्रमिक नहीं दिया जायेगा तो वह काम पर जाये बिना अपने बच्चों का भरण-पोषण नहीं कर पाएगी और इसलिये उसके बच्चों को किसी संस्था में रखना आवश्यक होगा। इसलिए यह बात सम्भाव्य दिखाई पड़ती है कि आर्थिक शक्तियों के कारण, जिन बच्चों के माता-पिता धनी नहीं हैं, उनकी देख-रेख में पिता का स्थान नहीं रहेगा बल्कि काफ़ी सीमा तक माता का स्थान भी समाप्त हो जायेगा। यदि ऐसा हो गया तो परम्परानिष्ठ नैतिकता के परम्परागत कारण समाप्त हो जायेंगे और नयी नैतिकता के लिए नए कारण ढूंढने पड़ेंगे।

मैं समझता हूँ कि यदि परिवार छिन्न-भिन्न हो गया तो यह कोई सुखद बात नहीं होगी। बच्चों के लिए माता-पिता के स्नेह का बड़ा महत्व है और यह तो निश्चित है कि संस्थाएं बड़े पैमाने पर स्थापित हो गयीं तो वे बहुत नियम-प्रिय और बहुत कठोर होंगी। बच्चों के लिए विभिन्न घरों का परिवेश न रहा तो उसका भेदकारी प्रभाव हट जाने से अत्यधिक एकरूपता आ जायेगी। और यदि पहले से अन्तर्राष्ट्रीय सरकार स्थापित न कर दी गयी, तो विभिन्न देशों में बच्चों को ऐसे उग्र देशप्रेम की शिक्षा दी जायेगी जिसके कारण यह बात लगभग निश्चित-सी हो जायेगी कि वे बड़े होकर एक दूसरे का सर्वनाश कर देंगे। अन्तर्राष्ट्रीय सरकार की आवश्यकता जनसंख्या के सम्बन्ध में भी उत्पन्न होती है क्योंकि इसके अभाव में राष्ट्रवादियों के पास जनसंख्या के वांछनीय मात्रा से अधिक बढ़ाने का प्रोत्साहन देने की प्रेरणा है और चिकित्सा तथा आरोग्य विज्ञान की प्रगति के कारण अत्यधिक जनसंख्या को कम करने का एकमात्र साधन युद्ध ही रह जायेगा।

समाजशास्त्रीय प्रश्न तो बहुधा कठिन और जटिल होते हैं लेकिन मैं समझता हूँ कि व्यक्तिगत प्रश्न सरल हैं। सेक्स में कुछ पापमय बात अवश्य है, इस सिद्धान्त ने व्यक्ति के चरित्र को अत्यधिक हानि पहुँचाई है। यह हानि शैशव

काल में ही प्रारम्भ हो जाती है और आजीवन रहती है। परम्परानिष्ठ नैतिकता ने सेक्स-प्रेम को कारागार में डालकर और सभी प्रकार की मैत्री भावना को भी बन्दी बनाने में बहुत योग दिया है। इसने पुरुषों को कम उदार, कम दयावान, अधिक दबंग और अधिक क्रूर बना दिया है। अन्त में चाहे कोई भी यौन आचार शास्त्र स्वीकार किया जाने लगे उसमें अन्धविश्वास नहीं होना चाहिए और उस की नींव ऐसे आधारों पर होनी चाहिए जो जाने जा सकते हों और जिन्हें प्रमाणित किया जा सकता हो। व्यापार या खेलकूद या वैज्ञानिक अनुसंधान या मानवीय क्रियाओं की किसी अन्य शाखा की तरह सेक्स उस आचार संहिता का परित्याग कर सकता है, जो हमारे समाज से बिलकुल भिन्न समाज के अशिक्षित लोगों द्वारा प्रख्यापित प्राचीन निषेधों पर आधारित है। अर्थशास्त्र और राजनीति के समान सेक्स के क्षेत्र में भी हमारे आचार पर उन आतंकों का प्रभुत्व हो जिन्हें आधुनिक खोज ने विवेक रहित बना दिया है और चूंकि हम अपनी मनोवृत्ति को उस खोज के अनुकुल नहीं बना पाए, इसलिए इससे जो लाभ हो सकता है, उससे हम वंचित ही रहते हैं।

यह तो सच है कि सभी प्रकार के संक्रमण के समान पुरानी प्रणाली से नयी प्रणाली तक के संक्रमण की भी कुछ अपनी विशेष कठिनाइयाँ हैं। जो लोग नया आचार बनाने को कहते हैं उन पर अनिवार्य रूप से यह आरोप लगाया जाता है कि वे युवकों को बिगाड़ रहे हैं जैसे कि सुकरात पर लगाया गया था। यह बात नहीं कि यह आरोप सदा निराधार ही होता है। यह आरोप उस समय भी निराधार नहीं होता जबकि नयी आचार संहिता के पूर्णरूपेण स्वीकार कर लिये जाने से जीवन का, पुरानी संहिता की तुलना में अधिक अच्छा होना निश्चित हो। जिस व्यक्ति को पूर्व के मुसलमान प्रदेशों का ज्ञान है, वह दावे से यह कहता है कि जिन लोगों ने दिन में पांच बार नमाज़ पढ़ना बन्द कर दिया है, उन्होंने दूसरे नैतिक नियमों का पालन करना भी छोड़ दिया है जिन्हें हम अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं। जो भी व्यक्ति यौन नैतिकता में परिवर्तन लाने को कहता है, उसके कथनों का इस प्रकार ग़लत अर्थ निकाला जा सकता है। मैं भी समझता हूँ कि मैंने कुछ बातें ऐसी कहीं हैं जिन्हें पाठकों ने सम्भवतः ग़लत समझा होगा।

प्यूरिटनवाद की परम्परागत नैतिकता की तुलना में नयी नैतिकता का सामान्य सिद्धान्त इस बात में भिन्न है कि हम इस बात में विश्वास रखते हैं कि सहजवृत्ति को कुण्ठित करने की बजाय उसका दिशानिर्देश करना चाहिए। इस सामान्य कथन के रूप में यदि इस विचार को संसार के सामने रखा जाये तो आधुनिक युग के अधिकतर स्त्री-पुरुष इसे स्वीकार कर लेंगे, परन्तु यह विचार ठीक तभी हो सकता है जबकि आप इसको पूर्णरूपेण स्वीकार करलें और शैशव से ही इसे कार्यरूप में परिणत करें। यदि बचपन में सहजवृत्ति का निर्देश करने के स्थान पर उसे कुण्ठित कर दिया जाये तो सम्भव है कि उसका परिणाम यह हो कि वह आजीवन कुण्ठित ही रखनी पड़े क्योंकि शैशव में कुण्ठित होने के कारण सहज वृत्ति ने बड़े अवांछनीय रूप धारण कर लिए होंगे। मैं जिस नैतिकता की बात कर रहा हूँ, उसका अर्थ यह नहीं कि वयप्राप्त या वयस्क लोगों से कहा जाये—"अपने मनोवेगों के अनुसार चलो और जो चाहे करो।" जीवन में स्थिरता और संगति होनी चाहिए। ऐसे साध्यों की ओर सतत् प्रयत्न होना चाहिए जो तत्काल लाभदायक नहीं होते और उस समय आकर्षक नहीं लगते। दूसरों का ध्यान रखने का स्वभाव होना चाहिए; और शुद्धता के कुछ मानक होने चाहिएं। परन्तु मैं समझता हूँ कि आत्मनिग्रह अपने आप में एक साध्य नहीं है और चाहता हूँ कि हमारी संस्थाएं और नैतिक परम्पराएं ऐसी हों कि आत्मनिग्रह की आवश्यकता अधिकतम न होकर न्यूनतम हो जाये। आत्मनिग्रह का प्रयोग बिल्कुल उसी तरह होना चाहिए जिस प्रकार कि गाड़ी के ब्रेकों का होता है। जब आप अपने को ग़लत दिशा में जाते हुए देखें तो इसका प्रयोग लाभदायक होता है, परन्तु जब वह दिशा ठीक हो तो इसका प्रयोग हानिकर है। कोई यह नहीं कहेगा कि गाड़ी के ब्रेक हर समय लगे रहें और उसी दशा में उसे चलाया जाये। कठिन आत्मनिग्रह की आदत का उस ऊर्जा पर हानिकर प्रभाव होता है जो किसी लाभदायक क्रिया में लगाई जा सकती है। आत्मनिग्रह के कारण यह ऊर्जा बाह्य-क्रिया के स्थान पर आन्तरिक संघर्ष पर ही व्यय होती रहती है। यह तो अपव्यय है और इस कारण खेद का विषय है; यह बात दूसरी है कि कभी-कभी यह आवश्यक होता है।

जीवन में आत्मनिग्रह किस सीमा तक आवश्यक है; यह इस बात पर निर्भर है कि शैशवकाल में सहजवृत्ति के साथ कैसा व्यवहार किया गया है। सहजवृत्तियां बच्चों को लाभदायक क्रियाओं की ओर ले जा सकती हैं और या हानिकर क्रियाओं की ओर—बिल्कुल उसी प्रकार जैसे रेल के इंजन की भाप उसे गंतव्य स्थान की ओर ले जा सकती है और या स्टेशन के उस भाग की ओर जहां वह दुर्घटनावश टकरा कर चूर-चूर हो जाये। शिक्षा का काम यह है कि सहजवृत्ति को उन दिशाओं में प्रवाहित करे जिनमें उसका विकास लाभदायक क्रियाओं के रूप में हो न कि हानिकर क्रियाओं के रूप में। यदि बाल्यकाल में शिक्षा इस उद्देश्य में सफल हुई हो तो पुरुष या स्त्री, साधारणतया, कड़े आत्म-निग्रह के बिना जीवन बिता सकती है; ऐसे अवसर विरल ही आएंगे जबकि कड़े आत्मनिग्रह की आवश्यकता पड़े। परन्तु यदि, इसके विपरीत बाल्यकाल में शिक्षा का रूप केवल यह रहा है कि सहजवृत्ति को कुण्ठित किया जाये तो बाद के जीवन में सहजवृत्ति जिन कृत्यों की प्रेरणा देगी वे आंशिक रूप में हानिकर होंगे और इसलिए उस पर निरन्तर आत्मनिग्रह का अंकुश रखना पड़ेगा।

ये सामान्य बातें यौन मनोवेगों पर विशेष रूप से लागू होती हैं जिसके दो कारण हैं: एक तो यह कि यौन मनोवेग बहुत प्रबल होते हैं और दूसरे यह कि परम्परानिष्ठ नैतिकता का इनसे गहरा सम्बन्ध रहा है। मालूम होता है कि अधिकतर परम्परानिष्ठ नैतिकतावादी यह सोचते हैं कि यदि मनोवेगों को कड़ाई से न रोका जाये तो वे तुच्छ, अराजकतापूर्ण और भद्दे बन जायेंगे। मैं समझता हूँ कि यह दृष्टिकोण उन लोगों को देख कर बना है, जिनके मन में बचपन से ही अन्तर्बाधाएं रही हैं और जिन्होंने बाद में उनकी उपेक्षा करने की चेष्टा की है। परन्तु ऐसे लोग निषेध करने में चाहे सफल न हो सकते हों, परंतु उनमें प्रारम्भिक निषेध-भावनाएं रहतीं अवश्य हैं। जिसे अन्तरात्मा कहा जाता है—अर्थात् बाल्यावस्था में सुने हुए उपदेशों को विवेक रहित और न्यूनाधिक अ-चेतन रूप से स्वीकार करना—उसके कारण लोग यह अनुभव करने लगते हैं कि रूढ़ियों के आधार पर जो भी वस्तु निषिद्ध है, वह ग़लत है और सम्भव है कि बुद्धि के आधार पर इसके विरुद्ध विश्वास होने पर भी यह अनुभूति बनी रहे।

इस प्रकार ऐसे विभक्त व्यक्तित्व का जन्म होता है जो अपने से ही सहमत नहीं है। उसमें सहजवृत्ति और विवेक का परस्पर मेल नहीं रहता बल्कि सहजवृत्ति महत्वहीन बन जाती है और विवेक अपनी शक्ति खो बैठता है। आप देखेंगे कि आधुनिक संसार में परम्परानिष्ठ शिक्षा के विरुद्ध विद्रोह विभिन्न मात्राओं में है। सबसे सामान्य विद्रोह तो उस व्यक्ति का है जो बुद्धि से यह मानता है कि उसे युवावस्था में जिस नैतिकता की शिक्षा दी गयी वह नीति के आधार पर सच है परन्तु उसे खेद के साथ—जो कुछ न कुछ अवास्तविक अवश्य है—यह भी कहना पड़ता है कि उसमें इतनी दृढ़ता नहीं कि उसी नैतिकता का अनुसरण कर सके। इस व्यक्ति के लिए कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अच्छा यही है कि या तो वह अपना व्यवहार बदल ले या विश्वास, जिससे कि दोनों में अनुकूलता आ सके। उसके बाद वह व्यक्ति आता है जिसके सचेत विवेक ने उन में से बहुत-सी बातें ठुकरा दी हैं जो उसने शैशवावस्था में सीखी थीं, परन्तु उसका अचेतन मन उन बातों का पूर्णरूपेण स्वीकार करता है। इस प्रकार का व्यक्ति किसी भी प्रबल भाव, विशेषकर डर के दबाव में आकर अचानक अपना आचरण बदल लेगा। किसी भयंकर रोग या भूचाल के कारण वह पछताने लगेगा और बाल-सुलभ विश्वासों के प्रवाह में बह कर अपी बौद्धिकन आस्थाओं का परित्याग कर देगा। सामान्य अवसरों पर भी उसके व्यवहार में अन्तर्बाधा होगी और सम्भव है कि उसकी अन्तर्बाधाएं अवांछनीय रूप धारण करलें। वे उसे उस प्रकार के कार्य करने से नहीं रोक सकेंगी जिनको परम्परानिष्ठ नैतिकता में बुरा समझा जाता है, परन्तु वह ये काम उन्मुक्त रूप से नहीं कर पाएगा और इस प्रकार इन कामों में वे तत्त्व नहीं रह सकेंगे, जिनके कारण इनका कुछ महत्व हो सकता था। किसी पुरानी नैतिक संहिता के स्थान पर नयी संहिता को प्रतिष्ठापित करना तब तक सन्तोषप्रद नहीं नहीं हो सकता जब तक कि नयी संहिता को सचेतन विचार का केवल ऊपरी स्तर ही नहीं वलिक समूचा व्यक्तित्व स्वीकार न करे। यदि लोग बचपन में पुरानी नैतिकता के प्रभाव में रहे हों तो अधिकतर लोगों के लिए ऐसा कर पाने में कठिनाई होगी। इसलिए किसी नयी नैतिकता के गुण-दोषों का विवेचन तब तक सुचारु रूप से नहीं किया जा सकता

जब तक कि बाल्यावस्था में ही इसको शिक्षा न दी जाये।

यौन नैतिकता कुछ सामान्य सिद्धान्तों से उत्पन्न होती है जिनके बारे में काफ़ी हद तक मतैक्य है, हालांकि उनसे जो परिणाम निकलते हैं उनके सम्बन्ध में काफ़ी मतभेद है। सबसे बड़ी आवश्यकता तो इस बात की है कि स्त्री-पुरुष में वह गहरा और गम्भीर प्रेम हो जिसमें दोनों के व्यक्तित्व समाविष्ट हो जाते हैं, दोनों मिलकर एक हो जाते हैं और पहले की अपेक्षा अधिक विकसित हो जाते हैं। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि शारीरिक और मानसिक दोनों पहलुओं से बच्चों की पर्याप्त देख-रेख की जाये। इन दोनों में से कोई भी सिद्धान्त ऐसा नहीं है कि उससे जुगुप्सा उत्पन्न हो सकती हो, परन्तु मैं तो इन्हीं दो सिद्धान्तों के अनुसार परम्परानिष्ठ संहिता में कुछ परिवर्तन करने के लिए कहता हूँ। आज की परिस्थितियों में अधिकतर स्त्रियां और पुरुष विवाह के बाद उन्मुक्त और उदारतापूर्ण प्रेम करने के अयोग्य हैं। यदि बचपन में रूढ़-निषेध उन्हें न आ दबोचते तो वे इतने अयोग्य न होते। या तो उन्हें पर्याप्त अनुभव नहीं होता और या उन्होंने छिप कर और अवांछनीय ढंग से उसे प्राप्त किया होता है। और फिर चूंकि नैतिकतावादियों ने ईर्ष्या को उचित बताया है, वे एक दूसरे को अपने कारागार में रखना उचित समझते हैं। निस्सन्देह यह बात बड़ी अच्छी है कि पति-पत्नी में एक दूसरे से इतनी सम्पूर्णता से प्रेम हो कि उन दोनों में से कोई भी किसी अन्य व्यक्ति के साथ सम्बन्ध स्थापित करने को लालायित न हो। परन्तु यह अच्छा नहीं है कि यदि यह व्रत खण्डित हो जाये तो इसे बहुत जघन्य बात माना जाये। और न यही वांछनीय है कि पति-पत्नी अन्य स्त्री-पुरुषों के साथ एक दूसरे से सभी प्रकार के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध असम्भव बना दें। अच्छे जीवन की नींव भय, निषेध और एक दूसरे की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप पर नहीं रखी जा सकती। इन बातों के बिना पति-पत्नी एक दूसरे के प्रति वफ़ादार बने रहें तो बड़ी अच्छी बात है, परन्तु जहां ये सब बातें आवश्यक हों वहां सम्भव है कि यह बहुत बड़ा बलिदान जान पड़े। इससे तो यह अच्छा है कि यदा-कदा बेवफ़ाई को ही सहन कर लिया जाये। इस बात में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि शारीरिक दृष्टि

से पति-पत्नी चाहे एक दूसरे के प्रति वफ़ादार रहें, एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या के कारण विवाह में सुख का अधिक अभाव रहता है बजाय उस स्थिति के जब कि इस बात का अधिक विश्वास हो कि किसी अन्य के साथ गहरा स्नेह है जो अन्ततोगत्वा स्थायी सम्बन्ध का रूप धारण कर लेगा।

मैं समझता हूँ कि अपने को सदाचारी समझने वाले बहुत-से लोग बच्चों के प्रति माता-पिता के आभारों को उतना गम्भीर नहीं समझते जितने कि वे होते हैं। आज की परिवार प्रणाली में—जहां माता और पिता दोनों का स्थान है—पति-पत्नी को चाहिए कि सन्तान उत्पन्न होते ही परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने का भरसक प्रयत्न करें, चाहें उसके लिए कितना ही आत्मनिग्रह क्यों न आवश्यक हो। परन्तु जो नियन्त्रण आवश्यक है वह केवल यह नहीं है कि किसी अन्य व्यक्ति के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के मनोवेग को रोका जाये—जैसा कि परम्परानिष्ठ नैतिकतावादी कहते हैं। ईर्ष्या करने, चिड़चिड़ा होने और प्रभुत्व जमाने आदि के मनोवेगों पर नियन्त्रण रखना भी उतना ही महत्व-पूर्ण है। इसमें सन्देह नहीं है कि मां-बाप के गम्भीर झगड़े बहुधा बच्चों के स्नायविक विचारों के कारक होते हैं; इसलिए इन झगड़ों को रोकने के लिए यथासम्भव प्रयत्न करने चाहिएं। इसके साथ ही, यदि मां या बाप में इतना आत्म-नियन्त्रण भी न हो कि वे अपने मतभेद का ज्ञान बच्चों को होने देने से अपने को न रोक सकें तो अच्छा यही है कि विवाह-विच्छेद कर दिया जाये। यह कभी नहीं कहा जा सकता कि बच्चों के दृष्टिकोण से, सबसे बुरी बात यह है कि विवाह का विच्छेद हो जाये; सच तो यह है कि विवाह का टूटना उतना बुरा नहीं जितना कि मां-बाप का ऊंचे स्वर में बोलना, क्रोधपूर्ण स्वर में आरोप लगाना और सम्भवतः मार-पीट पर उतर आना, जो कि बुरे घरों में बहुत-से बच्चों को देखना पड़ता है।

यह नहीं समझ लेना चाहिए कि अधिक स्वतन्त्रता का पक्ष लेने वाला विवेकशील व्यक्ति जो कुछ चाहता है वह इस प्रकार हो सकता है कि वयस्क बल्कि किशोर व्यक्तियों को—जो पुराने, कड़े और बन्धनकारी सिद्धान्त के वाता-वरण में पले हैं—क्षत मनोवेगों के अनुसार स्वच्छंद विचरने के लिए छोड़ दिय

जाये। नैतिकतावादियों ने उनको क्षत मनोवेगों की ही देन तो दी है। यह अवस्थान आवश्यक है, क्योंकि अन्यथा वे अपने बच्चों का लालन-पालन भी उसी बुरे ढंग से करेंगे जिस ढंग से कि उनका अपना हुआ ; परन्तु यह अवस्थान मात्र है। विवेकशील स्वतन्त्रता शैशवावस्था से ही सीखनी पड़ती है क्योंकि अन्यथा जो स्वतन्त्रता सम्भव है वह तुच्छ, सार रहित स्वतन्त्रता होगी, सारे व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता नहीं। तुच्छ मनोवेग शारीरिक अतिक्रिया की ओर ले जायेंगे परन्तु आत्मा बन्धनों में जकड़ी ही रहेगी। प्रारम्भ से ही सहजवृत्ति का ठीक दिशा-निर्देश किया जाये तो उसके फल उसकी अपेक्षा कहीं अधिक अच्छे होते हैं जो कि आदम के पतन के परिणामस्वरूप होने वाले पाप के बारे में कैलविनवादी विश्वासों द्वारा प्रेरित शिक्षा से उत्पन होता है। और जब एक बार इस प्रकार की शिक्षा का बुरा प्रभाव पड़ जाये तो उसे बाद के जीवन में भी दूर करना कठिन होता है। मनोविश्लेषण का एक महत्वपूर्ण लाभ यह हुआ कि शैशवकाल में किए गए निषेध और धमकियों के बुरे प्रभावों का पता चल गया है। इन प्रभावों को दूर करने के लिए मनोविश्लेषण-उपचार की सारी प्रविधियों को काम में लाना पड़ेगा और बहुत-सा समय लगेगा। यह बात न केवल उन लोगों के बारे में सच है जो स्पष्टतया मनोविकारों से पीड़ित हैं और जिन्हें पहुँची हानि सभी को दिखाई पड़ती है, बल्कि बहुत से उन लोगों के बारे में भी जो देखने में सामान्य लगते हैं। मैं समझता हूँ कि बचपन में जिन लोगों का लालन-पालन परम्परानिष्ठ ढंग से हुआ है, उनमें से १० में से ९ व्यक्ति किसी न किसी सीमा तक, साधारणतया विवाह और सेक्स के सम्बन्ध में शिष्ट और विवेकशील दृष्टिकोण रखने के अयोग्य हो चुके हैं। मैं जिस प्रकार के दृष्टिकोण और व्यवहार को सर्वोत्तम मानता हूँ, वह इस प्रकार के लोगों के लिए असम्भव बन चुका है, उनके लिए अधिकाधिक यही किया जा सकता है कि उन्हें उस हानि से अवगत कराया जाये जो उन्हें हुई है और इस बात के लिए तैयार किया जाये कि जिस प्रकार वे स्वयं अपंगु बना दिए गए थे, वैसे अपने बच्चों को वे अपंगु न बनाएं।

मैं जिस सिद्धान्त की शिक्षा देना चाहता हूँ वह स्वेच्छाचारिता का नहीं;

उसमें भी लगभग उतना ही आत्मनिग्रह करना पड़ेगा जितना कि परम्परानिष्ठ सिद्धान्त के अन्तर्गत करना पड़ता है। परन्तु आत्मनिग्रह का प्रयोग दूसरों की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप से बचने के लिए अधिक किया जायेगा और अपनी स्वतंत्रता पर बन्धन लगाने के लिए कम। मैं समझता हूँ कि यह आशा की जा सकती है कि इस सम्बन्ध में प्रारम्भ से ही ठीक प्रकार की शिक्षा के कारण दूसरों के व्यक्तित्व और स्वतन्त्रता के लिए सम्मान की भावना उत्पन्न करना अपेक्षतया आसान होगा। परन्तु हम में से जिन्हें यह विश्वास करना सिखाया गया है कि सदाचार के नाम पर दूसरों के कृत्यों का निषेध कर दें, उनके लिए दूसरों के उत्पीड़न के उस प्रिय रूप का परित्याग निस्सन्देह बड़ा कठिन है। बल्कि हो सकता है कि यह असम्भव हो जाये। परन्तु इससे हमें इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचना चाहिए कि जिन्हें प्रारम्भ से ही कम बन्धनकारी नैतिकता की शिक्षा दी गयी है उनके लिए भी यह असम्भव होगा। विवाह का सार यही है कि पति-पत्नी एक दूसरे के व्यक्तित्व का सम्मान करें और उनमें परस्पर उस प्रकार के प्रगाढ़ और निकट शारीरिक, मानसिक और आत्मिक सम्बन्ध हों जिनके कारण पुरुष और स्त्री का परस्पर घनिष्ठ प्रेम एक अत्यन्त फलदायक मानवीय अनुभव बन जाता है। सभी महान् और मूल्यवान वस्तुओं के समान इस प्रकार के प्रेम की भी अपनी नैतिकता होनी चाहिए। इसके लिए, बहुधा अधिक के लिए न्यून की बलि देनी पड़ती है, परन्तु यह बलिदान स्वेच्छा से होना चाहिए, क्योंकि यदि यह स्वेच्छा से नहीं होता, तो इससे उस प्रेम का आधार ही नष्ट हो जाता है, जिसके लिए यह बलिदान दिया जाता है।